संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायाः चतुरशीतिः पुष्पम्

भारतीयचिन्तने स्याद्वादः

प्रधानसम्पादकः

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी

कुलपतिः

सम्पादकः

प्रो. वीरसागरजैनः

सहसम्पादकौ

डॉ. अनेकान्तकुमारजैनः

डॉ. कुलदीपकुमारः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-16

संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायाः चतुरशीतिः पुष्पम्

भारतीयचिन्तने स्याद्वादः

प्रधानसम्पादकः
प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
कुलपतिः

सम्पादकः
प्रो. वीरसागरजैनः

सहसम्पादकौ
डॉ. अनेकान्तकुमारजैनः
डॉ. कुलदीपकुमारः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-16

प्रकाशक:
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालय:)
कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-११००१६

आई.एस.बी.एन : 81-87987-58-0

प्रकाशनवर्ष: - 2013

मूल्यम् : ₹ 175/-

मुद्रक:
अमरप्रिंटिंगप्रैस:
देहली-११०००९
दूरभाष: : 9871699565, 8802451208

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
कुलपतिः (प्रभारी)
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
बी-४, कुतुब-इन्स्टीट्यूशनलएरिया, नवदेहली-110016

Prof. Radhavallabh Tripathi
Vice-Chancellor (I/c)
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha
(Deemed University)
B-4, Qutub Institutional Area, New Delhi-110016

पुरोवाक्

स्याद्वाद अथवा अनेकान्त जैनपरम्परा का विश्व को अप्रतिम योगदान है। यह अनेक अत्याधुनिक वैज्ञानिक विचारधाराओं का भी पूर्वाभास प्रस्तुत करता है। अनेकान्त वस्तु के विराट् स्वरूप को जानने का वह तरीका है, जिसमें विवक्षित धर्म को जान कर भी अन्य धर्मो का निषेध नहीं किया जाता। उन्हें मात्र गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस प्रकार मुख्य-गौण भाव से सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान और उसका वर्णन हो जाता है। उसका कोई भी अंश कभी छूट नहीं पाता क्यों कि जिस समय जो धर्म विवक्षित रहता है उस समय वह धर्म मुख्य तथा अन्य शेष धर्म गौण रह जाते हैं। इस दृष्टि से जब मनुष्य अनंत धर्मात्मक वस्तु को स्पर्श करने लग जाता है तब वह विचार करता है कि हमें उस शैली में वचन विन्यास करना चाहिए जिसमें इस अनंत धर्मात्मक वस्तु का यथार्थ प्रतिपादन हो सके। उस निर्दोष वचन विन्यास की आवश्यकता ने 'स्याद्वाद' का आविष्कार कर दिया। इसमें लगा 'स्यात्' पद कथञ्चित् के अर्थ में प्रत्येक वाक्य के सापेक्ष होने की सूचना देता है। इस प्रकार अनेकान्त और स्याद्वाद में वाच्य-वाच्य सम्बन्ध है। अनेकान्त की कथन पद्धति का नाम ही स्याद्वाद है। सत्य के प्रतिपादन में स्याद्वाद की शैली हमारे सारे संशय दूर सकती है।

अनेकान्त से निष्पन्न जीवनबोध दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता का आधान करते हुए जीवन के उदार और व्यापक परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करता है। यह सहिष्णुता और अहिंसा की जीवनदृष्टि से हमें जोड़ता है। आज के युग में यह दृष्टि कितनी प्रासंगिक है- यह कहने की आवश्यकता नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानंद, हेमचंद्र आदि अनेक प्राचीन जैन आचार्यों ने प्राकृत तथा संस्कृत में

अनेक शास्त्रों का प्रणयन करके भगवान महावीर की स्याद्वाद शैली की स्थापना बहुत श्रमपूर्वक की है। प्रायः देखा जाता है कि हम इतर दर्शनों का अभिप्राय अपने ग्रन्थ के पूर्वपक्ष को पढ़कर ही समझते हैं। उस ग्रन्थ को देखने का प्रयास नहीं करते जहाँ उसका वास्तविक प्रतिपादन है। किसी भी दर्शन के मंतव्य को समझने का यह राजमार्ग नहीं है। उपरोक्त आचार्यों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का अध्ययन यदि कोई मनीषी करेगा तो मुझे विश्वास है कि वह अपना दुराग्रह छोड़ देगा और सत्य के वास्तविक स्वरूप को समझने की सही दृष्टि विकसित करेगा।

मुझे प्रसन्नता है कि विद्यापीठ के जैनदर्शन विभाग के आचार्यों ने **'भारतीय चिंतन में स्याद्वाद'** पर आयोजित एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में पठित शोध निबन्धों को अत्यंत श्रम के साथ सम्पादित किया है। मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ दार्शनिक विचारकों तथा अनुसन्धाताओं के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। ग्रन्थ के सुन्दर प्रकाशन के लिए विद्यापीठ का प्रकाशन विभाग भी धन्यवाद का पात्र है।



प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

सम्पादकीय

दि. 28 मार्च 2011 को विद्यापीठ के श्रद्धेय कुलपति स्व. प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी की पावन प्रेरणा से **'भारतीय चिन्तन में स्याद्वाद'** विषय पर जैनदर्शन विभाग ने एक राष्ट्रिय संगोष्ठी का संयोजन किया।

इसमें देशभर के अनेक विद्वानों ने जैनदर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त स्याद्वाद की पूर्व-उत्तर पक्षों सहित गंभीर समीक्षा प्रस्तुत की जो इस सिद्धान्त को भलीभाँति समझने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई।

प्रस्तुत कृति में उक्त संगोष्ठी में समागत विद्वानों के उन्हीं शोधपत्रों को लगभग ज्यों का त्यों प्रकशित किया जा रहा है और यही इस कृति की मुख्य विशेषता है। ऐसी कृतियाँ अनेक हैं जो स्याद्वाद के समर्थन में ही हैं और ऐसी भी रचनाएँ हैं जो उसके विपक्ष में ही हैं। किन्तु यह कृति दोनों पक्षों को ईमानदारी से रखने का एक लघु प्रयास है।

स्याद्वाद पर आयोजित इस संगोष्ठी की एक विशेषता यह रही कि उसमें चर्चा-परिचर्चाएँ खुलकर हुईं। अन्य दर्शन के विशेषज्ञ विद्वानों ने स्याद्वाद पर अनेक शंकाएँ रखीं तथा उनका समाधान प्राप्त किया। संगोष्ठी में परिचर्चा के माध्यम से प्रत्येक प्रतिभागी ने अपने विचार प्रस्तुत किये।

हम समझते हैं– 'स्याद्वाद' पर यह एक जीवन्त संगोष्ठी रही, जिसमें वहाँ उपस्थित सभी प्रतिभागियों को यह महसूस हुआ कि हमें इस विषय को हल्के में नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत इस विषय को जैनाचार्यों के संस्कृत-प्राकृत में लिखे मूलग्रन्थों से समझना चाहिए। ऐसा अक्सर होता है कि हम दर्शनशास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को मात्र उतना ही जानते हैं जितना तथाकथित लोगों के द्वारा अफवाह की तरह फैला दिया जाता है। मूलग्रन्थों के साथ उसकी गहराई में जाने का यत्न ही नहीं करते हैं। फलस्वरूप जीवन भर उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के साथ न्याय नहीं कर पाते हैं, खुद भी धोखे में रहते हैं और दूसरों को भी धोखे में रखते हैं।

इस ग्रंथ में हमने प्रयास किया है कि नवोदित प्रतिभाओं को भी अवसर प्राप्त हो। प्रतिभागियों में अनेक युवा शोधछात्र तथा छात्रायें भी थीं। हमने उनमें से कुछ प्रमुख आलेखों को उनके प्रोत्साहनार्थ भी इस ग्रन्थ में स्थान दिया है। हमने देश के सुप्रसिद्ध वरिष्ठ जैन विद्वान् स्व. पं. माणिकचन्द्र कौंदेय के एक अनुपलब्ध महत्त्वपूर्ण लेख को भी इस ग्रंथ के प्रारम्भ में रखकर विषय की गम्भीरता को प्रकट करने का प्रयास किया है। विद्यापीठ के अनेक आचार्यों के शास्त्रीय लेख भी इस ग्रन्थ की शोभा हैं। अनेक लेख आधुनिक सन्दर्भों को लिए हुए हैं, जिन्हें हमने इसलिए रखा है ताकि नये युग की नयी समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में 'स्याद्वाद' से मार्ग प्रशस्त हो सके, शोध-अनुसन्धान की नयी सम्भावनाएँ जन्म ले सकें।

हम कहना चाहते हैं कि यदि हम दुराग्रह से मुक्त नहीं हो सके हैं तो उसका अर्थ है कि हम 'स्याद्वाद' को समझ नहीं सके हैं। 'स्याद्वाद' एक किस्म का सत्याग्रह है जिसे समझने-समझाने का जैन दर्शन विभाग ने इस संगोष्ठी के माध्यम से प्रयास किया है। उसी के फलस्वरूप यह लेखों (विचारों) का गुलदस्ता यहाँ प्रस्तुत है।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन के अवसर पर हम श्रद्धेय कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, जिनकी प्रेरणा से यह महत्त्वपूर्ण संगोष्ठी आयोजित हुई तथा सभी प्रतिभागी विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिन्होंने संगोष्ठी को सार्थक बनाया और जिनके लेख प्रस्तुत कृति में प्रकाशित हो रहे हैं।

वर्तमान कुलपति प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने इस कृति के लिए पुरोवाक् लिखकर महती अनुकम्पा की है, अत: उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

विद्यापीठ के शोधप्रकाशनाविभागाध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय और शोध सहायक डॉ. ज्ञानधर पाठक के सहयोग हेतु धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। जैनदर्शन विभाग के सभी अध्यापकों एवं छात्र-छात्राओं का भी इस कृति के प्रकाशन में बड़ा सहयोग रहा है, अत: उन सबको धन्यवाद देकर अपनी लेखनी को विराम देते हैं।

–वीरसागर जैन

अनुक्रम

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

मुझे महावीर जिनेन्द्र से कोई पक्षपात नहीं है और अन्य कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी का ग्रहण करना चाहिए।

—हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1.38

जैनदर्शने स्याद्वादः

–माणिक्यचन्द्रः कौन्देयो न्यायाचार्यः

निर्बाधसम्विदितसूक्तिसुधाः स्रवन्ती।
संशीतिविभ्रमविमोहतमांसि हन्त्री।
जीवादितत्त्वकुमुदानि विबोधयन्ती।
स्याद्वादगीः शशिविभा धिनुतात् त्रिलोकीम्।।

ऊर्ध्वमध्याधस्तात् त्रिजगदुद्धरणाप्रतिहताप्रतिमनिःप्रतिद्वन्द्वसामर्थ्यजुष्टा, भक्तिभारविनतसंख्यातीतसुत्रामप्रमुखानेकलेखमुकुटमाणिक्यमणिमयूखमालारुणीकृतपादपद्माः, प्रणतषट्खण्डस्थामरनृतिर्यग्जीवाक्षुण्णशासनाधिकारिचक्रभृन्मण्ड लेश्वराभरणारत्नमरीचिजालबालातमञ्जरीपिञ्जनखमरीचिपुञ्जर्शञ्जता, नारकिणामपि सम्यग्दर्शनसहोत्थसद्बोधसमयनिष्ठध्यातव्यविषयतामापन्ना, अष्टाधिकसहस्रश्रीवर्द्धमानभगवन्तः सम्यग्ज्ञानमेव चरमफलनिःश्रेयसप्रापकाव्यभिचारिकारणतावच्छेदकावलीढधर्मावच्छिन्नं, त्रिकालत्रिलोकाबाधितपथप्रस्थाय्यपारपारा वारसंसारसमुत्तरणपोतायमानमुपदिदिशुः।

तत्रापि विश्वज्ञानप्रपितामहोपमानं श्रुतज्ञानं मुक्त्यव्यवाहितात्मभूतान्वयाव्य तिरेकशालिताशक्तिसमन्वितं त्रिविष्टपढक्काढौकितं उट्टङ्कितनिःकिट्टका लिकाकान्तिशातकुम्भमिवाहार्याप्रामाण्याज्ञानानास्कन्दित विमर्षणामन्थराचल सञ्चालनपरिक्षुब्धविद्यावारिधिमन्थनोद्युक्तविबुधमनस्सु नितरामुद्योतते चमत्कृतिजनकतावच्छेदकाक्तममितामोदामृतप्रदम्।

अनादिकालीनपावनवाच्यवाचकसम्बन्धमात्मसात्कुर्वतोः श्रुतज्ञानस्याद्वादयोर्वृत्त्यनियामकाविनाभावसम्बन्धभृद्विषमा व्याप्तिः प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धापन्नप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणावृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्य निष्ठसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वसाध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न

त्वोभयाभावस्तत्प्रयुक्तसम्बन्धधर्मावच्छिन्नहेतुना सहान्यथानुपपत्तिस्वरूपो च्चैस्तटमकण्टकमटयते।

परावबोधनोत्कृष्टपरोपकारतपोनिष्ठमहर्षिप्रज्ञप्तं मानवमनोगतदुरवधानदुर्भि क्षोत्क्षेपपरिक्षमपरमार्थसदुपदेशपयोधाराधाराधरायमाणमागमप्रामाण्यं स्वतः समुद्भूतसमुत्साहसन्दोहमदोलायमानयद्यत्वे भास्वद् भास्करप्रभेव प्रकाशते प्रमातृप्रमितिप्रमेयरूपम्।

शाब्दप्रमाणामन्तरा मूकवाग्मिरासभरटनेषु भेदं न पारयन्ति स्थूलबुद्धयोऽपि वावदूकाः किमुत तीक्ष्णप्रज्ञा मनीषिणाः।

सार्वसर्वज्ञातीन्द्रियज्ञानविकले कलावयमेव ते पितेति मातृवाक्यादन्य त्प्रमाणं नास्ति प्रत्यक्षलैङ्गिकार्थापत्त्यैतिह्योपमानादि।

परस्परविरुद्धनानाप्रवादिप्रवादप्रकटनप्रतिविधानप्रगुणपटुः स्याद्वादरवि रहर्निशं प्रतिवादिप्रतिसिद्धान्तध्वान्तपलायनकलाकलितं विसंवादिखद्योतद्यु- तिविघटनं चकास्तितराम्।

आलापपद्यावलिस्रोतोनुप्रविष्टविवादापन्नस्याद्वादसम्वादसम्वाद- परीवादप्रवादानुवादापवादेष्वेकतमः स्याद्वाद एव सश्लाघादरं जगन्मूर्ध्नि चूड़ामणीयते निःशेषविष्टपनिविष्टद्विष्टै कान्तकण्ठकोत्पाटनपटुर्विघ्न विदारणमंगलविधानाभ्याम्।

प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः इति न्यायनियम विद्भ्यः प्रतिस्वभावमापत्तिप्रतिव्यूढप्रतिपत्तिजनकसद्धेतुमालामद्घोषयन् स्याद्वादो नितराम् रोचते, बुभुक्षितभोजनभट्टेभ्यः क्षीरान्नपिच्छिलदधिपरिकरित साज्यरसभरितमोदकपूर इव मिथ्याभिनिवेशतीव्रबुभुक्षानिरसनभटः क्षुत्क्षाम कुक्षिपूरकः।

प्रतिवस्तुपर्यायमस्तिनास्त्येकानेकभेदाभेदनित्यत्वानित्यत्व प्रभृतिसप्तभङ्गी- भागीरथीमवतारयन्नणोरपि निरंशत्वे मेरुसर्षपसाम्यप्रसङ्ग बिभीषिकां सांशत्वे ऽनवस्थाव्याघ्रीसाध्वसञ्चापसारयन् स्याद्वादेश्वरस्त्रिलोक्यां विभ्राजते।

हृद्यानवद्यविद्यावित्त्या कथञ्चिद्वादविद्विद्वानेकान्तधर्मग्रहाग्रहग्रहणमूलरागा

दिदोषानपहरन् कर्माष्टककाष्ठनिर्दहनजुष्टोऽष्टगुणाधारमुक्तधराधिष्ठितो निरारेकभवेदित्यनन्तानन्ताविभागिप्रतिच्छेदधारिमहत्प्रमोदावसर:।

गवेतरासमेवतत्वे सति सकलगोसमवेतगोत्वसामानाधिकरण्येन गोत्वावच्छेदकावच्छेदेनेति गावि गोत्वा मुतागवि गोत्वं चेदनर्थकं नृष्वस्मासु गोत्वविरोधादगव चेद्गोत्वं भवत्स्वपि गोत्वमास्तामिति व्याघातनिग्रहस्थानाद्यक्षेपानेकविक्षेपात्मककटाक्षप्रक्षेपणेनान्वर्थनामा श्रुताब्धिपारग: श्रुताब्धिपारग: श्रुतसागरमुनिरखण्डामोघनययोजनिकाजय्यप्रणाल्या स्याद्वादानभिज्ञान् साटोपं तरुणाबलीवर्दोपमितिब्रुवाणान् वलिप्रभृतिसचिवान् सभ्यसभापतिवादिप्रतिवादिचतुरङ्गसंघट्टनाप्रचुरे शास्त्रार्थे मंक्षु तिरश्चकार:।

क्षणिकक्षेमकरदारकटाक्षाक्षताक्षत्वेप्यक्षोभमोक्षक्षेत्रस्थाक्षरमुक्तिलच्मी-साक्षाद्वीक्षणाकांक्षा विक्षेप सप्रेक्षा, दोषोरगध्वांक्षक्षेपका: क्षान्तिदक्ष काष्ठाम्बरभिक्षवो मंक्ष्वीक्षन्ते स्याद्वादचर्यपक्षच्छायाश्रयिणारताम्।

स्याद्वादपदवाच्यानेकान्तस्वरूपधर्मस्वभावागुणपर्यायाणाम् प्रतिपादक-विक्षावशदृष्टिकोणगतानां नयोपनीययमान् मिथ:सापेक्षाणां विरोधसंशय-व्यथतिकरानवस्थावैयधिकरणप्रभृतिविविधदोषानालीढानां सावैभौमप्रियता न केनापि निवारयितुं शक्यते।।

गङ्गायां घोषोऽत्र वाच्यार्थलक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थवाच्याभिधानवृत्तिभिर्भ गीरथरथखातावच्छिन्नागंगावतराचलसमुद्रावधिजलप्रवाहसुरदीघिकातीरशीतत्व पावनातिशयार्थोभिधाने स्यांद्वाद एव शरणं रघशिरस्ताडं पूत्कृर्वतो प्याप्तं।

विरोधाभासापन्नानां गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्यय: कृत्रिमाकृत्रिमयो: कृत्रिमे सम्प्रत्यय: देशभाषायामापि ''ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती, डूबते को तिनके का सहारा अच्छा, बिन मांगे मोती मिले मांगे मिले न भीख, बिना रोये माता भी दूध नहीं पिलाती'' इत्याद्यपरिमितार्थभृतपरिभाषा वाक्यानां फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिमूलसम्प्रतिपत्ति: स्याद्वादपथेनैव प्रतीतिशिखरिशिखरारूढा भवतीति निरारेकं सुनिश्चितं सामोदं नश्चेत:।

दार्शनिकेषु नितांतबावदूकवैतण्डिकजाल्पिकरूपानेकनाटककलाक-लितकलकलायमाननैयायिककाणादा: नव्यन्यायनिर्वृत्तिनिपुणा निरर्थकाल्पार्थ-

कावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितानुयोगिताधारताधेयताविधयितानिरूपिता प्रभृत्यबहुसारकटुकाठिन्यसम्पादकवाचकप्रयोगोच्चारणचणा स्ततोन्ये पूर्वोत्तर मीमांसासांख्यपतञ्जलिबार्हस्पत्यशौद्धोदनिसरणिशरणा अपि प्रकाण्डप्रति वादिनो नाद्याप्यवगाहन्तेऽनन्तप्रमेयमाणिक्यादिमणिभृत स्याद्वादाम्बुध्यल्पीय उपतटमपि।

बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावछिन्नस्थूलमतिकुती र्थ्यहृदयमस्तकोन्माथिनीं सूक्ष्मार्थगवेषकामन्दधिषणाधिपश्चिदाह्लादवर्धिनीं चरमपरमोपादेयमोक्षपुरुषार्थान्वयव्यतिरेकशलिकारणत्ववाहिनीं स्याद्वादवैजयन्तीं प्रसारयन्त आर्हता उच्चमस्तकं प्रद्योतन्ते योगक्षेमपारायणपरा यणाः परिचितांतरात्मपरमात्मतत्त्वाः।

नहि सन्तप्तातत‌भिः सर्वथाभेदवादिभिरिव द्रव्यद्रव्ययोः सयोगः संयोगद्रव्याःसमवायः संयोगसमवाययोर्विशेष्यविशेषणभावः समवायविशेष्य-विशेषणयोः स्वरूपसम्बन्धोरूपरसयोरेकार्थ समवाय इति लांगूलिकलंगूलव ल्लम्वायमानकल्पितसम्बन्धपरम्परानवस्थाचमूरीचंक्रमणाक्रांतेष्यते स्याद्वादिभिः कथञ्चित्तादात्म्यात्मकसबन्धपीयूषवाराशिनिमग्नवपुर्मिर्जिनहिमाचलोद्भवर याद्वादवाग्गङ्गा प्रवाहावगाहनपवित्रान्तःकरणैः।

श्रीवर्द्धमानमनुपरिपूर्णाधिकारं न्यायशास्त्रकृतो भावितीर्थङ्करविभूतिभृत श्रीसमन्तभद्रसूरयोऽन्ययोगव्यवछेदकायोगव्यवच्छेदकात्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारं प्रयुक्तमप्रयुक्तं वा स्याद्वादसहचारिणं नितांतावश्यकमामनन्त्यन्यथानुक्तसमत्वा पत्त्यापादनेनावधीरयन्ति प्रतिवादिपण्डितान्।

पार्थ एव धुनर्धरः पार्थ एव पार्थो धनुर्धरो भवत्येववज्जरायुजाण्डजपोतानां गर्भो गर्भ एव जरायुजाण्डजपोतानामेतेषां गर्भजन्म भवत्येवेत्यत्रोद्देश्यतावच्छे दकसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादि लक्षितैवकारोपयोजना प्रमितिज नकतावच्छेदकापन्नप्रमाणभृत्प्रमातृविद्वत्सम्विद्विषयतामियर्त्ति।

समघनचतुरस्राकारानन्तानन्तरज्जुविस्तारायामावगाहधार्याकाशवद्वंहीयसि स्याद्वादः गम्भीरोदारोदरे आसत्तियोग्यताकांक्षातात्पर्यव्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्य पदार्थबोधादिशाब्दबोधजनकसामग्री अभिनिविष्टास्तीति नास्माकमत्रातितरामादरः खण्डनमण्डनविधौ।

लक्ष्यलक्षणाप्रकरणेष्वप्युपयोगो लक्षणमित्यादौ लक्ष्यतावच्छेदकसमाना धिकरणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्य मतिव्याप्तिलक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्याप्त्यादिल क्ष्मदोषरिक्तं पूर्वमनुस्याद्वादैवकारपदप्रतिष्ठितं लक्षणं त्रिलोकाबाधितं कक्षीकुर्वन्ति लक्ष्यलक्षणभावविदो धैर्यधारिधीधना विचक्षणाविपश्चितः संगरितविपक्षपक्षक्षय दक्षाः स्वकीयसच्चरित्रपवित्रकीर्त्तिकौमुदीसमासादितप्रियमिष्टशिष्टाक्लिष्ट वचनप्रयोगप्रीतिप्रसराः।

क्वाचित्कपुण्यदेशभाविशारदी वृष्टिरिव, कादाचित्कसिद्धचक्रपूजन-प्रवृत्ति रिव अनेकभिषग्वर्यान्यतमसाध्यपारदीसिद्धिरिव माकन्दमंजरीमकरन्द-विन्दुस्यन्दिस्याद्वादानुस्यूतवचनप्रणाली सुदुर्लभा।

धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात्प्रमाणनयदुर्णयानामिति निष्कलंका-कलंकोक्त्या सम्यङ्मिथ्यैकान्तानेकान्तवत् स्याद्वादयोजनप्रक्रियापि पुद्गलो रूपवान्, मुक्ताः केवलज्ञानिनो, देवदत्तो विद्वान्, जिनदत्तो धनाढ्य इत्यादिवाक्येषु द्वैविध्यमश्नुते।

अनल्पानन्तानन्तानेकान्तेषु संख्यातशब्दनिष्ठवाचकतानिरूपितवाच्य-तावन्तः स्याद्वादाभिहिता धर्मा परिगणिताः सन्ति परमल्पीयःसंख्याकैरभि-धायकैः सातिशयश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमशालिनां प्रमातृणामनन्तप्रमेयप्रति पत्तिर्भवतीति महच्चित्रम्। लघुपरिमाणावच्छिन्नवटवीजमिव लघीयान् सद्वादः महापरिमाणाक्तप्लक्षद्रु श्रुतज्ञानं जनयत्प्रपितामहायते कैवल्यस्यापि, प्रथमोपशम सम्यक्त्वदृष्टिर्यथानिःश्रेयसोत्पत्तौ मातामहीयते चेत्यालोचनप्रतिक्रमणप्रत्या ख्यानप्रत्याहारधारणासनसमाधिध्यानाधिष्ठैर्धार्मिकैरनारतं ध्येयः।

परमार्थग्राहिनिश्चयव्यवहारनयप्रमाणकृतानुचिन्तनप्रणुन्नैर्निमित्तो पादानकारणाकसम्वित्त्युत्पत्तिव्यवस्थापादकैरर्थव्यंजनयोगसंक्रान्त्याक्रान्तधर्म्य-ध्यानरतैरनुक्षणं परिशील्यतां स्याद्वादः आत्मनीननानावस्तुस्वभाववाचन्प्रवणः सर्वथैकान्तत्यागचणः सप्तभंगनयापेक्षो मोक्षोपयोगिप्रलम्बकर्मनिर्जरकनिश्चयन-योत्पादकान्तर्जल्पमयो हेयादेयविशेषकः साक्षात्प्रत्यक्षकेवलज्ञानमिव साक्षात्सर्वतत्त्वप्रकाशकः।

स्याद्वादाम्बुध्येकशः सीकरग्राहिनानाप्रवादिनो हरिद्राग्रन्थिग्राहिमूषक वणिगिव स्वमताभिनिवेशमदमत्ता अद्याप्युपासते तमेव व्यापकवपुषं सापेक्षानेक धर्मवकुशं ऋद्धिसिद्धिवृद्धिप्रापकम्।

सुरेन्द्राख्यबंगाल्येवं ब्रूयाद्विश्वे वंगवासिनोऽलीकाभिधायिनः सन्ति, शाब्दबोधप्रणल्या वाचो स्यास्तात्पर्यमेतावन्मात्रं वितथभाषणदोषारोपणपरं प्रतिभाति परंच सुरेन्द्रोपि वंगदेशवासी सोपि स्वकीयप्रतिज्ञावशंवर्त्तितयानृतवचन शीलः तथा च तदध्यारोपितं वंगीयेष्वसत्यवादित्वमप्यसत्यं, ततोन्यथानुपपत्ति-रूपार्थापत्त्या वंगप्रांतीयमनुजाः सत्यवादिनः इति सम्प्राप्ताः सत्यलाच्छनस्याद्वा दसंस्कृत्योपर्युक्तवाक्यस्योभ्यार्थप्रतीतिरखिलापामरजनप्रसिद्धाटीकामन्तरोदृङ्कयते भटिति।

हिताहितसम्यग्गवेषणा संचेतनाविरहितो गर्दभ एव विजयां न भुनक्तीत्यत्र रासभोपि विजयां नात्तीति एवकार स्थानेऽपि पदपरिवर्त्तनेन स्याद्वादमुद्रांकितप-रत्वेन मादपदार्थत्यागनियमिनियमव्यवस्था स्थीयते।

कृतकारितानुमतसंरम्भसमारम्भारम्भत्रियोगाभ्यासोद्‌भूतसाम्परायिकास्रव निरोधहेतु चित्‌चैतन्यचमत्कारसंचेतनात्मसंवरपरिणामैरुदितोदीयमानोदेष्यमा-णकर्मनिर्जरणसमर्थसहजस्फारप्रभाभासुरशुद्धज्ञानघनोन्तरात्मा नानासप्त-भङ्गीनयनयननीयमानस्फुरज्ज्योतिः स्फूर्जति अतिगहनतरात्मतत्त्वार्थरत्नपुंज परिपूर्णतर्कमंजूषोद्‌घाटनकर्मठकुं चिकाभूतः।

शब्दस्फोटपदस्फोटवाक्यस्फोटवादिवैयाकरणाभिप्रेतव्युत्पन्नाव्युत्पन्न शब्दपक्षकक्षीकरणेन क्षणिककालान्तरस्थायिपदार्थद्वयोररीकुर्वाणसौगतमतप्रति पत्त्याथवा द्वैताद्वैतप्रदिसौत्रान्तिकवैभाषिकविवेकपद्धत्या ज्ञानशब्दात्माद्वैता नुविद्धपरिपाट्या च विशालस्याद्वादप्लक्षवृत्तस्वच्छच्छायामाश्रयन्ति पतदञ्ज लिपतञ्जलिप्रभृतयस्तीरादर्शिपोतकाकन्यायमनुकुर्वाणा अनेकविधश्रुतिस्मृती तिहासपुराणव्याकरणन्यायतर्कमीमांसासाहित्यनानाविधशास्त्राध्ययनाध्यापनर्यालोचनाः।

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत'', ''न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'' इतिकर्तृवादाकर्तृवादविपञ्च्चीघोषा घोषणां कुर्वती भगवत्स्वोपज्ञगीताभारती यथा स्याद्वादं प्रतिपाद्य प्रतिपत्तिं विदधाति वैष्णाव सम्प्रदायाश्रितानां प्रत्यवायविरोधिनित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायिनामणोरणीयान्महतो

महीयानित्यध्येतृणां बाधप्रतिबन्धतावच्छेदकोभूतस्वनिष्ठविषयिताघटित-धर्मावच्छिन्नप्रतिबन्धकतानिरूपितासाध्यवत्तानिश्चयत्वव्यापकप्रतिबन्धका-निरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदकावच्छिन्नशालिज्ञानरूपसंशयनिराकरणपरा।

पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वप्रभृतिसापेक्षवादसम्बन्धिष्विव पौराणिकाभीष्टगजाननरसिंहोदाहरणेषु कापिलाभिप्रेतसत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतितत्त्वे मेचकरसापन्नपाकने विचित्रचित्रपटे च स्यात्पदानुयोज निकानिवार्यमाणा केवलान्वयिनो छायेवानुगच्छति प्रतिपदं। समाधिसाधन-साधकसाधव इव प्राज्ञा: समयसारैकान्तरसिका स्वात्मानं श्रेण्यारोहणम्मन्य माना: अनुक्षणां परिशुद्धज्ञानमात्रैकभावनाभावितान्त:करणा: स्वेच्छोच्छल त्पुष्कलोच्चानल्पविकल्पमालामात्मकर्मद्वयावच्छिन्नप्रयोगकुशलकुलिशोपमास्याद्वा दाञ्चितभेदज्ञानबलेन तीक्ष्णापरशुनेव भवपाशाशावल्लरी छिन्दन्तोतन्त्यात्मान आत्मन: आत्मभिरात्मभ्य: आत्मन आत्मस्वेवं षट्कारकाध्यात्मैकताना:।

पश्चिमाशावर्त्त्यस्ताचलोप्युदयाद्रितामियर्त्ति सर्वेषां वर्षाणां मेरुरुत्तरत: स्थित इत्यखण्डज्योतिष्कसिद्धांतप्रक्रियया भारतवर्षीयजनोक्तसामंकालीनर व्यस्तकाल: पश्चिमविदेहस्थमानवानां प्रात:कालीन सूर्योदयवेलोद्घोष्यते वैश्वानरदग्धनरमनलसेको लाभप्रद: जललेपश्च कष्टप्रद: विषस्य विषमौषधमित्याद्यलौकिकलौकिकानिदर्शनप्रदर्शनेन स्याद्वादवल्ली वेष्टयति त्रिविष्टपं, किं बहुना संज्ञ्यसुभृदखिलवचनप्रणाली सूत्रानुस्यूत निर्मलवृत्तमौक्तिकस्रगिव स्याद्वादांकितगीरखिलस्थावरजंगमजङ्गदभिव्याप्य विद्वज्जनमानसविहारिम रालहृदयेषु नितरां नितांतमुद्भासते इति।

श्रेष्ठित्व, पण्डितत्व, दातृत्व, पात्रत्व, गृहपतित्वोदासीनत्व, जिनभक्तिनिपुणत्व, आत्मचिन्तनचेतयितृत्व, अन्तर्जागृतत्व, वहि:सुप्तत्व, शुद्धद्रव्याभ्यासित्व, अशुद्धद्रव्यकथनीविरतत्व, विद्वद्गोष्टीचर्चित्व विजनतायां स्वात्मपरिशीलनपरत्व, अन्त: प्रमाणोपपन्नाकलंकाचार्यप्रणीतप्रमेयप्रेमित्वऽपि बहि:कानजीस्वाम्युक्तनिश्चयनयच्यार्थनिवध्यासनोन्मुखत्वप्रभृति स्वच्छसमुच्छलदच्छलधर्माध्यासप्रणाल्या स्याद्वादगुम्फितया नानागुणनिष्ठा धेयतानिरूपिताधिकरणतामधिकुर्वाण: सर श्रेष्ठिवर्य हुकुमचन्द्रमहोदय अतिशेरते गङ्गजीवननंद नचन्दनलसच्छुभ्रगुणाढय धार्मिकनृन्।

प्रलम्बाजवञ्जमदिवर्त्तनकर्त्तनविध्वंसनपटुजिनधर्मप्रभावना, चैतन्यचिच्चिन्तनानन्दस्वादप्रवर्त्तना सद्विद्यहृद्यनिरयद्यगद्यहृद्यनिरवद्यगद्यपद्यमय जिनशासनवेदि विद्वद्वृन्दसद्गोष्ठीचैतषाम् प्रवर्द्धन्ताम् धर्मशास्त्राभ्यासानु-मननशीलता च।।

स्याद्वादोन्नतवर्द्धमानहिमवत्पद्मांगतो निसृता।
स्वान्यज्ञप्तिधृताजटाक्तजिनभृद् द्वीपांगविद्गौतमात्।
सन्तप्तात्महिताप्यकुण्डवदुमा स्वाम्याननाद्वाहिता।
नास्त्यस्त्यादिकणान्विकीर्यजिनवाग्गङ्गा पुनात्वाशु नः।।

पिउ-पुत्त-णत्तु-भव्वय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो।
ण य सो एगस्स पिय त्ति सेसयाणं पिया होइ।।
–समणसुत्तं, गाथा 670

एक ही पुरुष में पिता, पुत्र, पौत्र, भानेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक ही समय में वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता होता है। अतः एक का पिता होने से वह सबका पिता नहीं होता। (यही स्थिति सब वस्तुओं की है।)

न्यायदर्शनरीत्या स्याद्वादसमीक्षा

–प्रो. पीयूषकान्तदीक्षितः*

स्याद्वादः जैनदर्शनस्य मन्ये तादृशः कश्चन विशिष्टो वादो यादृशश्चार्वाकदर्शनस्य सर्वजनसिद्धः स्वभाववादः। लोकसिद्धे स्वाभाववादे यथा विदुषां मति- र्नानुरज्यते तथैवात्र स्याद्वादेऽपि कदाचित् सुधियां भवति विमतिः। वस्तुतो वादः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह एव भवति। स्यादस्तीत्यादिरूपेण सुप्रसिद्धे स्याद्वादेऽपि स्यादस्ति अथवा स्यान्नास्तीत्यादयः सप्तविकल्पाः अहमहमिकया प्रस्तुता नूनं प्रमाणैस्तर्कैश्च किञ्चित् साधयितुं निषेद्धुं वा प्रवृत्ता भवन्ति, यत् किमप्यत्र संसाध्यते सः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षग्रहात्मकः प्रतिपक्षसङ्ग्रहात्मको वा भवतीति स्यान्मुखेनोद्यतस्य विचारजातस्य वादत्वं निष्प्रत्यूहं सिद्ध्यतीति ध्येयम्।

वादोऽयं श्वेताम्बरदिगम्बरजैनसम्प्रदायसाधारण इति विशेषतोऽवधेयम्। श्वेताम्बराणां परिचितिः रजोहरणमुखपट्टिकाकेशलुञ्चनादिकेन लिङ्गेन, चोलपट्टककल्पाख्येन अङ्गवस्त्रादिवेषविशेषेण, पञ्चविधसमित्यात्मकेन त्रिविधगुप्त्यात्मकेनाचारेण च भवति। श्वेताम्बराः गुरवः अहिंसासत्यास्तेयब्रह्म-चर्याकिञ्चन्यस्वरूपैः पञ्चमहाव्रतैर्युताः, क्रोधलोभमोहादिभिरन्तरङ्गरिपुभि-र्विवर्जिताः, जितेन्द्रिया निर्ग्रन्थाश्च भवन्ति। एतेषामाहारः नवकोटिविशुद्धो मधुकर्या वृत्त्या स्वीकृतो भवति। वस्त्रपात्रविशेषादिसन्धारणं तावदेतेषां संयमपरिपालनार्थमेवेति सुनिश्चितं तथ्यम्। स्वभक्तैरभिवन्दिता इमे 'धर्मलाभ' पदवचनेनामोघेनाशिषा भक्तान् संयोजयन्ति।

दिगम्बराणां परिचयस्तु दिगम्बरत्वेन पाणिपात्रत्वेन च सहजतया भवतीति ध्येयम्। काष्ठासङ्घ–मूलसङ्घ–माथुरसङ्घ–गोप्यसङ्घभेदेन इमे

* न्यायदर्शन विभागाध्यक्षः, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

दिगम्बरा गुरवश्चतुर्धा प्रसिद्धाः। काष्ठासङ्घा दिगम्बराश्चमरीगोबालनिर्मितां पिच्छिकां स्थापयन्ति। मूलसङ्घ-गोप्यसङ्घसम्बद्धास्तु दिगम्बरा मयूरपिच्छपिच्छिकां सन्धारयन्ति। काष्ठ-मूल-माथुरसङ्घा दिगम्बरा भक्तैरभिवन्द्यमाना 'धर्मवृद्धिम्' इति पदभाषणेन आशीर्वादं प्रयच्छन्ति। गोप्या अपि श्वेताम्बराणामिव 'धर्मलाभ' पदवचनेनैव भक्तान् तोषयन्ति। भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशत् सङ्ख्याका अन्तरायाश्चतुर्दशसङ्ख्याकाश्च मलाः समान्यतया सर्वेषामेव परिवर्जनीया विशेषतया भवन्ति। एवं केचनाङ्गुलिपरिगणनीया एव भेदा जैनसम्प्रदाययोः प्रसिद्धाः। अनयोः सम्प्रदाययोर्गुरौ, देवे, तर्केषु शास्त्रेषु स्याद्वादादिसिद्धान्तेषु च मनागपि भेदो नास्तीति नूनमवधेयम्।

जैनदर्शनानुसारञ्जगतीतले विद्यमानं वस्तुजातं तावदनन्तधर्मकं भवतीति सिद्धान्तः। वस्तुनो जैनदर्शने उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वमेव लक्षणं स्वीक्रियते। अत्र उत्पत्तियुक्तत्वम्, व्यययुक्तत्वम्, ध्रौव्ययुक्तत्वम् वा प्रत्येकं वस्तुनो लक्षणन्निर्दुष्टन्न सम्भवतीति 'उत्पादव्ययध्रौव्यैः समुदितैर्युक्तत्वमेव वस्तुनो लक्षणमिति निर्धारणीयम्। वस्तुनोऽनन्तधर्मकत्वमेव मन्ये स्याद्वादस्य पुष्टा पृष्ठभूमिः।

संसारेऽस्मिन् प्रमाविषयत्वेन प्रमेयत्वेन वा यत् किमपि प्रसिद्धं तत् सर्वं खलु वस्त्वनन्तधर्मात्मकमिति युक्त्या सिद्धत्येव। यः पुरुषः एकं वस्तु सर्वविधैः पर्यायैः जानाति स नियमेन सर्वमुपजानाति। यतः सर्वोपलब्धिमन्तरा विज्ञातुमभिलषितस्यैकस्य स्वपर्याय-परपर्यायभेदभिन्नस्य सर्वात्मनावबोधस्य स्वयं बृहस्पतेरप्यसम्भवात्। यः पुरुषः सर्वात्मना सर्वं वस्तुजातं साक्षादवगच्छति स एकमपि वस्तु स्वपरपर्यायभेदेन सर्वथा भिन्नं विजानात्येव। प्रोक्तञ्च-

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥

जैनदर्शनानुसारं प्रमाणं प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति द्विविधम् स्वीकृतम्। अनन्तधर्मकं वस्तु एव तावत् प्रमाणविषयतां याति। उक्तञ्च श्रीहरिभद्रसूरिणा षड्दर्शनसमुच्चये–

प्रत्यक्षञ्च परोक्षञ्च द्वे प्रमाणे तथा मते।
अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह॥[1] इति

अनन्ताः त्रिकालविषयत्वात् अपरिमिता धर्माः-स्वभावाः सहभाविनः क्रमभाविनश्च स्व-पर-पर्याया यस्मिन् तदनन्तधर्मं वस्तु एव भवति। अनन्तधर्मशब्दात् स्वार्थे यदा क प्रत्ययो भवति तदाऽनन्तधर्मकमिति शब्दो निष्पद्यते। अनन्तधर्मकमिति शब्दस्यार्थस्तु अनेकान्तात्मकं वस्तु एव वस्तुतः सिद्ध्यति।

अथवा अनेके अन्ता अंशा धर्मा वा, आत्मा स्वरूपं यस्य तदनेकान्तात्मकमिति व्युत्पत्या वाऽनेकान्तात्मकमिति पदं वस्तुमात्रवाचकं प्रसिद्ध्यतीति ध्येयम्। सन्दर्भेऽस्मिन् **वस्तुपदवाच्यं** सचेतनम् अचेतनं च **सर्वं द्रव्यं भवतीति** विभावनीयम्। जैनदर्शने **जीवाऽजीवाऽस्त्रवबन्ध-संवरनिर्जरामोक्षपुण्याऽपुण्य**भेदेन प्रथितेषु नवधा विभक्तेषु तत्त्वेषु[2] **जीवाऽजीवयोः द्रव्यत्वं** स्वीक्रियते। जीवस्तावच्चेतनालक्षणोऽनुमतः पुनरजीवस्तु चेतनाभिन्नत्वेनैवात्र सम्मतः। एवंस्वरूपयोरेव जीवाऽजीवद्रव्ययोः जगद्वर्तिनः सर्वेपि भावाः समाहिता भवन्तीति वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वमपि व्यवस्थितं सिद्ध्यति। यथा नैयायिका ज्ञानादीनां रूपरसादिचतुर्विंशतिङ्ख्याकानां गुणानां, कर्मणामुत्क्षेपणादिभेदेन पञ्चधा विभक्तानां, समवायविशेषसमवायानां च द्रव्याश्रितत्वमभ्युपयन्ति न तथा जैनाचार्या, एतेषां जगतीतले द्रव्यमतिरिच्य एकान्ततः कुत्राप्यनुपलम्भादिति ध्येयम्।

यद्यप्याऽऽस्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्याऽपुण्यपदार्थानामपि जीवाऽजीवयोरेवान्तर्भावः निर्दिष्टकारणादेव कथं नानुमतो जैनानामिति संशयो नूनमुदेति परं नैवमाशङ्कनीयम्, पुण्याऽपुण्यं पुरस्कृत्य सन्दिग्धानां पुरुषाणां विप्रतिपत्तिनिरासप्रयोजनकत्वेन पुण्यापुण्यतत्त्वस्य पृथक्

निरूपणीयत्वात्। सकारणसंसारमुक्ति- हेतुप्रतिपादनमुद्दिश्य च आस्रवसंवरनिर्जरमोक्षाणामपि पार्थक्येनोपन्या- सस्तत्त्वरूपेण जैनाचार्याणां युक्तियुक्त एवेति विभावनीयम्।

अधुनैकस्मिन्नेव वस्तुनि अनन्ता धर्मा कथं प्रतिभासन्त इति संशयोऽवतरति। संशयोऽयमेवं समाधेयः – प्रमाणप्रमेयस्वरूपस्य सकलस्य क्रमाऽक्रमभाविनोऽनन्तधर्मात्मकस्यैकस्वरूपात्मकस्य वस्तुनः स्वद्रव्यापेक्षया परद्रव्यापेक्षया च सर्वेषु स्थलेषु सर्वेषु कालेषु च समेषामेव पुरुषाणां प्रतीतिर्जायमाना दृश्यते। सुवर्णघटदृष्टान्तमुखेन तथ्यमिदं सविस्तरमेवं विज्ञेयम्–

जनानां प्रतीतिविषयो घटः स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैर्विद्यते, पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्च न विद्यते इति वस्तुस्थितिः। फलतोऽयं घटः यदा स्ववृत्ति सत्त्व-ज्ञेयत्व-प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिधर्मैर्विचार्यते तदा तस्य सत्त्वादयस्तावत् स्वपर्याया एव घटे तिष्ठन्ति। स्थितावस्यां केचनापि परपर्यायाः परधर्मा वाऽत्र घटे नैव तिष्ठन्तीति विज्ञेयम्। स्थितावस्यां संसारेऽस्मिन् सर्वस्य वस्तुनः सत्त्वादीन् धर्मानधिकृत्य सजातीयत्वात् सत्त्वादिस्वधर्मैः संसारे विजातीयस्यैवाभावान्न कुतोऽपि व्यावृत्तिर्घटेऽनुभूयते।

यदा तु पौद्गलिको घटो द्रव्यतः प्रतीतिविषयो भवति, तदा घटोऽयं पौद्गलिकद्रव्यत्वेन अस्तित्वमवाप्नोति परं धर्माऽधर्माऽऽकाशकालद्रव्यत्वैस्तु नास्त्येव। पौद्गलिकत्वं तावदत्र स्वपर्याय इति ध्येयम्। अत्र घटस्य धर्मादिभ्योऽनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन परपर्यायास्त्वनन्ता एव जीवद्रव्याणामनन्तत्वात्। पौद्गलिकोऽप्ययं पार्थिवघटः पार्थिवत्वेन त्वस्ति परं जलीयत्वादिरूपेण नास्ति। अत्र पार्थिवत्वं स्व-घटपर्यायः, जलीयादिद्रव्येभ्यस्तु नैकेभ्यो व्यावृत्तिः पार्थिवघटस्य स्पष्टा एव। फलतः परपर्याया अनन्ताः सन्तीति बोध्यम्। एवमेव बहुविधा स्वस्मिन् विद्यमाना स्वपर्याया स्वस्माद्व्यावृत्ताः परस्मिन् विद्यमाना धर्माः परपर्यायास्समुन्नेयाः। अत्र स्वपर्यायानपेक्ष्य परपर्याया अनन्ता अधिकसङ्ख्याकाश्च भवन्तीति ऊह्यम्। **पार्थिवोऽयं घटः धातुरूपेण स्वपर्यायेणास्ति न तु मृत्तिकात्वेन।** धातुस्वरूपोऽप्ययं सुवर्णघटः सौवर्णत्वेन स्वपर्यायेणास्ति परं रजतत्वरूपेण परपर्यायेण नास्ति। सौवर्णोऽप्ययं घटः सुवर्णपट्टिकानिर्मितत्वेनास्ति खनिविद्यमानेन तावदपरिष्कृतस्वर्णात्मकत्वेन

नास्ति। घटितसुवर्णात्मकत्वेन विद्यमानोऽप्ययं चित्रदत्तनिर्मितोऽयं घटो न विचित्रदत्तनिर्मितघटितसुवर्णात्मकत्वेनास्ति। चित्रदत्तस्वर्णकारस्वर्णेन घटितोऽपि घटः कम्बुग्रीवाद्याकारेणास्ति न पुनर्मकुटाद्याकारेणास्ति। कम्बुग्रीवाद्याकारोऽपि घटः वर्त्तुलाकारेणाऽस्ति न तावदवर्त्तुलाकारेण। वर्त्तुलाकारोऽप्ययं घटः स्वाकारेणास्ति न पुनर्भिन्नघटाद्याकारेण। स्वाकारोऽप्ययं घटः स्वोत्पादकपरमाणुविनिर्मितवर्त्तुलाकारैरस्ति भिन्नपरमाणुविनिर्मिवर्त्तुला-कारैर्नास्त्येव।

एवमेव घटे बहवः स्वधर्मा परधर्माश्च भवन्ति यदा सहैव एकेनैव शब्देन घटस्यास्य विवक्षा जायते तदा घटोऽयमवक्तव्यताकोटौ समापतति विरुद्धयोः स्वपरधर्मयोर्वाचकस्यैकस्य शब्दविशेषस्य संसारेऽत्यन्तमभावात्।

एवमेकः स्वर्णघटः कथमनन्तधर्मात्मकः स्याद्वादविषयोऽने-कान्तवादमण्डितो वा लोके भवतीति आविद्वदङ्गनागोपालं सिद्ध्यति। एवमेव क्षेत्रतः कालतो भावतः परिणामतः प्रतिवस्त्वनेकान्तताऽनुशीलनीया चिन्तकैः।

प्रमाणवाक्यैः नयवाक्यैश्च वस्तुन्यनन्तधर्माणां सिद्धिः स्वीक्रियते। प्रमाणवाक्यानि तावत् सकलादेशपदव्यपदेश्यानि भवन्ति। एवमेव नयवाक्यानि विकलादेशपदेनाभिधीयन्ते। पदार्थधर्माणां कालाऽऽत्मस्वरूपार्थसम्बन्धो-पकारगुणिदेशसंसर्गानपेक्ष्य अभेदरूपेण वचनं सकलादेशो भवति। एवं कालात्मरूपादेर्भेदविवक्षया पदार्थधर्माणां निरूपणं विकलादेशत्वेनाभ्युपगम्यते। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्त्यवक्तव्यः, स्यान्नास्त्यवक्तव्यः, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य इत्येवं प्रकारेण सकलादेशा विकलादेशाः, प्रमाणसप्तभङ्गिनयसप्तभङ्गिरूपाः प्रातिस्विकरूपेण सप्तधा[3] विभज्यन्ते।विरोध-वैयधिकरण्यानवस्था-सङ्कर-व्यतिकर-संशयाप्रतिप-त्त्य-भावादयो दोषा अपि सप्तभङ्गीनयेऽस्मिन्न भवन्तीति विशेषोऽनुसन्धेयः।

द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वस्तु नित्यं सामान्यमवाच्यं सच्च भवति पर्यायार्थिकनयापेक्षया चाऽनित्यं विशेषो वाच्यमसच्च भवति। फलतो नित्याऽनित्य-सामान्यविशेष-अभिलाप्यानभिलाप्य-सदसद्वादानान्तावत् समावेशो स्याद्वाद आञ्जस्येन जायते। नयस्वरूपाणां समस्तानामेकान्तवादानां

समन्वयकः स्याद्वादसिद्धान्त एव सम्भवदुक्तिकः । वस्तुनोऽनन्तेषु धर्मेषु एकस्मिन् काले कमप्येकं धर्ममपेक्ष्य वस्तुनः प्रतिपादनमेव नयपदेन प्रोच्यते। अत एव यावन्ति वचनानि एवंविधानि तावन्त एव नयास्तावदसंख्याता भवन्ति। सामान्यतया नैगम–सङ्ग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्र–शब्द–समभिरूढैवम्भूताः सप्तधा विभक्ता नया जैनदर्शने प्रथिताः। न्यायवैशेषिकमतानुयायिनस्तु नैगमनयमेव मन्वते। अद्वैतिनः साङ्ख्याश्च सङ्ग्रहनयमेवानुकुर्वन्ति। चार्वाका व्यवहारनयानुरोधेन प्रवर्त्तन्ते। बौद्धास्तावत् ऋजूसूत्रनयानुयायिनः। वैयाकरणाः खलु केवलं शब्दनयमेवानुमन्यन्ते। प्रमाणन्तु वस्तुतः सर्वनयरूपं स्वीक्रियते। नयवाक्येषु स्यात्पदयोजनपुरस्सरं वचनमेव प्रमाणशब्दाभिधानं लभते। सर्वाणि दर्शनानि नयवादगर्भितानि मतानि। यदा नयस्वरूपाणि दर्शनानि परस्परनिरपेक्षभावभावितानि वस्तु प्रतिपादयन्ति तदेमानि दर्शनानि परसमयशब्देन व्यवह्रितानि भवन्ति। यथा सर्वा नद्यः समुद्रमुपयान्ति तथा समस्तानि शास्त्राण्यप्यनेकान्तदर्शन एव समवयन्तीति जैनदर्शनं स्वसमयपदवाच्यतामवाप्नोतीत्यार्हतसिद्धान्तः।

वस्तुतस्तु समेषां न्यावैशेषिकादिदार्शनिकानां सिद्धान्ता अस्माभिर्नूनं समादरणीयाः। यदि जैनदर्शने न्यायवैशेषिकदर्शने वा परस्परं स्वसिद्धान्तविशेषस्य सागरोपमताप्रतिपादनमुखेन प्रशंसा अन्येषां दार्शनिकमतानां निन्दा वा भवति तर्हि वस्तुतः एतत् सर्वं निन्दामुद्दिश्य नैव प्रवर्त्तते प्रत्युत स्वपक्षेऽन्तेवासिनां स्थैर्यस्थापनधियैवेयं भवति। फलतः सर्वाणि न्यायवैशेषिकप्रमुखानि दर्शनानि एकमेव लक्ष्यं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि भेदस्तु सामान्यैः प्रतिपदमनुभूयमानो मात्रं मार्गभेदात्मक एवेत्यस्माभिर्दृढं निर्धारणीयमेव।

प्रायः सर्वेषु दर्शनेषु कस्यापि तत्त्वज्ञानार्थं लक्षणं विधीयते यथा आत्मनः न्यायदर्शने लक्षणं ज्ञानम्, येन लक्षणेन लक्षणस्य प्रयोजनं प्रायः सर्वत्र स्वीकृतं व्यावृत्तिव्यवहाररूपं सिद्ध्यति। व्यावृत्तिस्तादितरभेदानुमितिरूपा जैनैरपि स्वीक्रियत एव। यदि अनयाऽनुमित्या एव वस्तुनः तत्त्वं ज्ञातु शक्यं तर्हि स्याद्वादप्रमाणेन तत्त्वसाधनं नितान्तं भ्रामकमित्यापत्तिरपि वज्रलेपायमाना तिष्ठत्येव। आपाततस्तु एकत्र विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानमस्तित्वनास्तित्वादिना जायमानं जनेषु संशयं जनयिष्यतीति भवति

स्याद्वादस्वीकरण आरोप: यस्य समाधानं चिन्त्यम्। किं वैशेषिकै: 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम' इत्येव दर्शितं तत्त्वज्ञानसाधननिरूपणं स्याद्वादमपेक्ष्य नोत्कृष्टम्? जीवाऽजीवयोरेव समेषां समावेशाद्यथा जैनाचार्यैरन्यान्यपि तत्त्वानि उद्देश्यविशेषं पुरस्कृत्य पृथक्तया निरूपितानि तथैव अन्यैरपि दार्शनिकै: विशिष्टं तावदनितरसाधारणं प्रयोजनमुद्दिश्यैव गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावानां द्रव्यातिरिक्तानां तत्त्वानां निरूपणं कृतमिति अभ्युगमे कश्चन आक्षेपो न कथमपि समुचित:? एवंविधा: जिज्ञासा अस्माभि: संवादमुखेन नूनं समिल्य तावदायत्यां समाधेया:।

---

1 षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका 55 पृ.312

2 'जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ, बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नवतत्त्वानि मन्यते।' –ष.द.समु. का.47 पृ. 211

3 अथ केऽमी सप्तभङ्गा: कश्चायमादेशभेद इति? उच्यते। एकत्र जीवादौ वस्तुनि ऐकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्याक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयो: समुदितयोश्च विधिनिषेधयो: पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणै: सप्तभि: प्रकारैर्वचनविन्यास: सप्तभङ्गीति गीयते। तद्यथा। 1. स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्ग:।

2. स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीय:।

3. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीय:।

4. स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थ:।

5. स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चम:।

6. स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठ:।

7. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम:। स्याद्वादमञ्जरी, श्लो.23 पृ. 209-210

जैनागमेषु स्याद्वादः वेदान्तश्च

–प्रो. शुद्धानन्दपाठकः*

जैनागमेषु स्याद्वादस्य सप्तभङ्गानां वर्णनं द्रव्यं गुणः पर्यायः नयश्चेत्यादिशब्दानां दृश्यते।

प्रथमशताब्द्यामपि आचार्य–उमास्वामिमहाभागानां तत्त्वार्थसूत्रेषु अपि अनेकान्तवादस्य नयवादस्य च चर्चा विशेषरूपेण वर्तते किन्तु स्याद्वादस्य सप्तभङ्गानामुल्लेखो नास्ति।

सप्तभङ्गानां नामानि सर्वप्रथमं कुन्दकुन्दमहोदयानां पञ्चास्तिकाये प्रवचनसारे च मिलन्ति। किन्तु स्पष्टरूपेण प्रतिपादनं चतुर्थशताब्दौ सिद्धसेनदिवाकरेण समन्तभद्रेण च कृतम्। अष्टमशताब्द्याम् अकलंकेन हरिभद्रेण च अस्य ''स्याद्वादस्य'' सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्वरूपं प्रतिपादितम्। अस्य वादस्योपरि ये आक्षेपा आसन् यथा एषः संशयवादः वर्तते अत्र विरोधः दरीदृश्यते इत्यादयः तेषां सर्वेषामाक्षेपाणां निराकरणं तत्त्वार्थराजवार्तिके सिद्धविनिश्चये अनेकान्तजयपताकाग्रन्थे शास्त्रवार्तासमुच्चये च कृतमिति। नवमशताब्द्यां विद्यानन्देन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्–अष्टसहस्त्रीम्–आप्तरीक्षां च न्यायशास्त्रानुकूलशैल्यां विलिख्य स्याद्वादस्य समर्थनं प्रतिपादनञ्च कृतम्।

अन्ते चाष्टादशशताब्द्याम् उपाध्याय–यशोविजयमहोदयेन स्याद्वादः सार्वतान्त्रिकः इति घोषणा कृता। स्याद्वादसमर्थनाय वैदिकमुदाहरणं दीयते यथा 'नासदासीत् नो सदासीत्तदानीम्'[1], 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके[2]', 'अणोरणीयान् महतो महीयान्[3]' इति।

स्याद्वादः सर्वेषां दर्शनानां सत्तां स्वीकरोति, सम्पूर्णदर्शनं नयवादे

---

* आचार्यः, अद्वैतवेदान्तविभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नवदेहली

समन्वितं भवति। अतः उच्यते–

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः।
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्रीक्ष्यते।।[4]

अधुना स्वसमयपरिकल्पितः स्याद्वादः प्रतिपाद्यते। जैनदर्शने आचार्याः सप्तभङ्गीनयं वर्णयन्ति। (1) स्यादस्ति (2) स्यान्नास्ति (3) स्यादस्ति च नास्ति च (4) स्यादवक्तव्यः (5) स्यादस्ति चावक्तव्यः (6) स्यान्नास्ति चावक्तव्यः (7) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति।

(1) स्यादस्ति–एव वस्तु इति विधिकल्पनया उच्यते, इति प्रथमो भङ्गः। 'स्यादस्ति जीवः' अर्थात् स्वापेक्षया जीवः अस्तित्वरूपः एवास्ति। भङ्गेऽस्मिन् द्रव्यार्थिकनयस्य प्रधानता, पर्यायार्थिकनस्य च गौणता भवति। अत्र स्यादिति–अव्ययं कथंचिदर्थकम्। 'स्यादस्ति' इत्यस्याऽर्थो भवति कथंचिदस्ति इत्यर्थः। तत्र स्यात्कथंचित् स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल भावरूपेणास्त्येव सर्व घटादि, न पुनः परद्रव्य–क्षेत्र–काल–भावपेण। तथाहि घटः द्रव्यतः पार्थिवत्वेनाऽस्ति, न जलादिरूपेण। क्षेत्रतः–नवदेहलीत्वेनाऽस्ति, न तु हरिद्वारत्वेन। कालतः वसन्तत्वेनास्ति, ग्रीष्मत्वेन नास्ति। भावतः– श्यामत्वेनाऽस्ति, रक्तादित्वेन नास्ति। इति प्रथमो भंगः।

(2) स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयो भङ्गः। 'स्यान्नास्ति जीवः' अन्यस्याऽपेक्षया जीवः नास्ति। भङ्गेस्मिन् पर्यायार्थिकनयस्य मुख्यता, द्रव्यार्थिकनयस्य गौणता वर्तते। जीवः परसत्ताऽभावाऽपेक्षया मुख्यत्वेन नास्तिरूपो वर्तते। स्वसत्ताभावापेक्षया गौणत्वेनास्तिरूपो वर्तते।

(3) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयो भंगः। स्यादस्ति च नास्ति च जीवः। जीवः कथंचित् अस्तित्वरूपः कथंचित् नास्तिस्वरूपः। अत्र द्रव्यार्थिकनयस्य पर्यायार्थिकनस्य च द्वयोरपि प्राधान्यं वर्तते। यदा वक्ता अस्तित्वनास्तित्वधर्मविषये कथयितुमिच्छति तदा अस्य भङ्गस्य प्रयोगो भवति।

(4) स्यादवक्तव्यः–स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थो भङ्गः। स्यादवक्तव्यो जीवः। भङ्गेऽस्मिन् द्रव्यार्थिकनयस्य पर्यायार्थिकनयस्य च द्वयोरपि–अप्रधानता वर्तते। अस्तित्वनास्तित्वधर्मद्वयस्य मुख्यरूपेण एकस्मिन्समये एव कथनं न भवितुमर्हति, एकशब्देन अनेकगुणानां वर्णनं नहि भवति, अतः अस्तित्वनास्तित्वधर्मापेक्षया कथंचित् जीवः अवक्तव्यः इति।

(5) स्यादस्ति–अवक्तव्यः–स्यादस्त्येव स्यादवक्तयमेवेति विधिकल्प–नया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः। स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः। जीवः कथंचित् अस्तिरूपः अवक्तव्यरूपश्च वर्तते। अस्मिन् भङ्गे द्रव्यार्थिकनयस्य प्रधानता। एवञ्च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक– नययोरप्रधानता वर्तते।

(6) स्यान्नास्ति–अवक्तव्यः-स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपन्निषेधकल्पनया च षष्ठः। स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीवः। जीवः कथंचित् नास्तिरूपः, अवक्तव्यरूपश्च वर्तते। अस्मिन् भङ्गे पर्यायार्थिकनयस्य प्रधानता एवञ्च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयस्य अप्रधानता। जीवः पर्यायाऽपेक्षया नास्तिरूपोऽस्ति, तथा च अस्तित्वनास्तित्वधर्मद्वय–स्याऽभेदविवक्षयाऽवक्तव्यस्वरूपश्च वर्तते।

(7) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः। जीवः कथंचित् अस्ति, कथंचित् नास्ति, कथंचित् अवक्तव्यश्चाऽस्ति। जीवो द्रव्यापेक्षयाऽस्ति, पर्यायाऽपेक्षया नास्ति, द्रव्य–पर्याययोः सहैवाऽपेक्षया अवक्तव्यरूपश्च जीवो वर्तते इति।

एतदेव निरूपणं स्याद्वादस्य कृतं जैनदर्शने।

तत्रोच्यते भगवत्पादैः शंकराचार्यैः नायमभ्युपगमो युक्तः, 'कुतः' एकस्मिन्नसंभवात् न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति, शीतोष्णवत्। जीवाजीवाऽऽस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः एते सप्त पदार्थाः निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युः नैव वा तथा

स्यु:। इतरथा हि तथा वा स्यु:, अतथा वा, इति अनिर्धारितरूपमेव ज्ञानं संशयज्ञानवत् अप्रमाणमेव स्यात्।

सप्तपदार्थानां सप्तत्वसंख्या स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। पञ्चास्तिकायानां पञ्चत्वसंख्याऽस्ति वा नास्ति। पदार्थानाम् अवक्तव्यत्वमपि न भवितुमर्हति। अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते च अवक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्। जैनदर्शनं सम्यक् दर्शनं स्यात् न वा स्यात्। इत्यादिकं सर्वं संशयात्मकमेव वर्तते ''संशयात्मा विनश्यति'' इत्येषैव स्थिति: स्याद्वादस्य। इति शम्।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 10-129-1
2. ईशावास्योपनिषत् 51
3. कठोपनिषत् 2-201
4. अध्यात्मसार: जिनमतस्तुति:।

णियमणिसेहणसीलो,
णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो।
सो सियसद्दो भणिओ,
जो सावेक्खं पलाहेदि॥

–समणसुत्तं, गाथा - 715

जो सदा नियम का निषेध करता है और निपात रूप से सिद्ध है, उस शब्द को 'स्यात्' कहा गया है। यह वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।

काश्मीरशैवदर्शनदिशा स्याद्वादसमीक्षणम्

–प्रो. हरेरामत्रिपाठी*

स्याद्वाद: जैनेतरदर्शनानां समन्वयं करोति। जैनदर्शनस्य विद्वांस: वदन्ति यत् सर्वाणि दर्शनानि नयापेक्षया सत्यानि सन्ति नयवादगर्भिततत्वात्। ऋजूसूत्रनयापेक्षया बौद्धदर्शनस्य, संग्रहनयापेक्षया वेदान्तदर्शनस्य, नैगमनयापेक्षया न्यायवैशेषिकदर्शनयो:, शब्दनयापेक्षया शब्दब्रह्मवादिन: वैयाकरणस्य व्यवहारनयापेक्षया चार्वाकदर्शनस्य च सत्यत्वं स्वीकर्तुं शक्यते। अत एव मल्लिषेणसूरिणोक्तम्[1]–

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षणपीक्षमाण:।
जिन त्वदाज्ञामवमन्यते य: स वातकी नाथ पिशाचकी वा॥

अर्थात् हे नाथ! प्रतिक्षणोत्पन्नविनष्टपदार्थानां प्रत्यक्षेण स्थिरं दृष्ट्वा वातरोगग्रस्ता: वा पिशाचसदृशा: जीवा: भवदाज्ञाया तिरस्कारं कुर्वन्ति इति।

सर्वे पदार्था: उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपा: सन्ति। यतोहि स्याद्वाद-मञ्जरीकारैरुक्तम्–

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्॥[2]

स्याद्वाद: इत्यत्र शब्दद्वयं विद्यते स्यात् वादश्च। स्यात् शब्दस्तु तिङन्तप्रतिरूपनिपातो विद्यते। तस्य अनेकान्त:, विधि: विचारश्चेति अनेकार्थो भवति। अत्रानेकान्तार्थो: विवक्षित:। तत्त्वबुभुत्सो: कथा वाद:। जैनन्यायशास्त्रे परामर्शरूपेण सप्तवाक्यानां प्रयोगो भवति। अयमेव सप्तभङ्गीनय: इत्यनेनोच्यते। भङ्गशब्दार्थ: समुच्चय: यत्र अस्तित्वस्य, नास्तित्वस्य च एकदैव समुच्चयो जायते स च सप्तभङ्गीनय इत्यनेनोच्यते। सांख्यादिसप्तदार्शनिकेभ्य:

---

* आचार्य: सर्वदर्शनविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

प्रतिपादितस्य एकान्तवादस्य भङ्गं सम्पाद्य अनेकान्तवादस्योपस्थापनत्वात् सप्तभङ्गीनयः इति डॉ. उमाशङ्कर[3] शर्मा "ऋषिः" भणति। सप्तभङ्गीनयस्तु अधोलिखितानि सन्ति–

1. स्यादस्ति।

2. स्यान्नास्ति।

3. स्यादस्ति च नास्ति च।

4. स्यादवक्तव्यः।

5. स्यादस्ति चावक्तव्यः।[4]

6. स्यान्नास्ति चावक्तव्यः।

7. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः।

सत्कार्यवादिनः सांख्याः पदार्थानां[5] सत्तां स्वीकुवन्ति। शून्यवादिनः बौद्धाः पदार्थानामसत्तां स्वीकुर्वन्ति। असत्कार्यवादिनः नैयायिकाः उत्पत्तेः प्राग् पदार्थस्याभावम् उत्पत्त्यनन्तरं भावं, ध्वंसानन्तरं कार्यद्रव्यस्य अभावञ्च स्वीकुर्वन्ति। कालभेदेन सत्तामसत्ताञ्चाभ्युगच्छन्ति। "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" इति स्वीकुर्वन्तः अद्वैतवेदान्तिनः जगतः उपादानं कारणं माया वर्तत इति वदन्ति सा च माया न सद् न असद् ज्ञानविरोधी भावस्वरूपा सत्त्वरजस्तमस्स्वरूपा अनिर्वचनीया विद्यत इति वदन्ति। माया यदि मिथ्या वर्तते तदा ततः जायमानाः सर्वे पदार्थाः प्रतीतिकालेऽपि नास्ति। तत्र केचन मायावादिनः सांख्योक्तपदार्थानां सत्तां स्वीकृत्य जगदिदमनिर्वचनीयमिति वदन्ति। तत्र केचन सत्त्वासत्वाभ्यां सह मायिकानिर्वचनीयत्वमाहुः।

एतेषां दर्शनानां ये सिद्धान्ताः सन्ति तत्र जैनाः स्यादित्यस्य सन्निवेशं कृत्वा स्वविचारमुपस्थापयन्ति। अत एव अनन्तवीर्यः अवदत्–

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते॥

क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः॥
आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः॥
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तो भङ्ग उच्यते॥[6] इति॥

स्यादिति पदमेकनिपातमस्ति तिङन्तरूपेण व्यवह्रियते। अनिश्चयस्य द्योतकोऽयमिति। स्यात्पदं सार्थकमस्ति क्रियावत् दृश्यते अनिश्चयस्य व्यञ्जकं भवति तत्र अस्तित्वविधेयस्य विशेषणमस्ति। श्रीमद्विमलदासेन सप्तभङ्गीनयस्य लक्षणमित्थमुक्तम्–

प्राश्निकप्रश्नज्ञान[7]प्रयोज्यत्वे सति, एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधि–प्रतिषेधात्मकधर्मप्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वमिति। परम्परया प्राश्निकप्रश्नज्ञानजन्यत्वमेव प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वमिति। कश्चन शिष्यः गुरुं प्रति पृच्छति घटः अस्ति? तदनन्तरं शिष्यस्य प्रश्नज्ञानात् गुरोः विवक्षा जायते विवक्षया गुरुः वाक्यप्रयोगं करोति। "स्याद् अस्त्वेव घटः"[8] अत्र घटविशेष्यक अविरुद्धविध्यादिप्रकारकं यज्ज्ञानं घटोऽस्ति इत्येवं रूपम् तज्जनकञ्च यत् "स्यादस्त्येव घटः" इति वाक्यमिति एवमन्यान्यपि वाक्यानि इत्थं भवन्ति इति।

स्यान्नास्त्येव घटः, स्यादस्ति नास्ति च घटः, स्यादवक्तव्य एव घटः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः इति। अत्र केचन सप्तभङ्गीनयस्य लक्षणं कुर्वन्ति 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन[9] विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी इति। पञ्चम्यर्थः प्रयोज्यत्वम् विधिप्रतिषेधकल्पना इति वाक्यस्यार्थः विधिप्रतिषेधप्रकारकबोधजनिका तृतीयार्थः वैशिष्ट्यम् तस्य विधिप्रतिषेधयोरन्वयः, वस्तुनि इत्यत्र सप्तम्यर्थः विशेष्यत्वम् कल्पनापदार्थः बोधजनकत्वम् तस्यैकदेशे बोधे विशेष्यत्वस्य अन्वयः तथा च प्रश्नवशप्रयोज्यैकवस्तुनिष्ठविशेष्यता निरूपित अविरोधविशिष्टविधिप्रतिषेधनिष्ठ प्रकारता निरूपित बोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वाश्रयत्वम् सप्तभङ्गीनयस्य लक्षणमिति। सप्तविधैव जिज्ञासा भवति इति कथम्

उच्यते संशयाः सप्तविधा एव भवन्ति। अतः तद्विषयीभूतधर्मा अपि सप्तविधाः भवन्ति। ते च धर्माः कथञ्चित्सत्त्वम्, कथञ्चिदसत्त्वम्, क्रमार्पितोभयम्, अवक्तव्यम् कथञ्चित्सत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वम्, कथञ्चिदसत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वम्, क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वम्, च इति। प्रथमे भङ्गे सत्त्वस्य मुख्यरूपेण प्रतीतिः द्वितीये भङ्गे पुनरसत्त्वस्य प्रतीतिः तृतीये भङ्गे क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतीतिः, चतुर्थे तु अवक्तव्यत्वस्य प्रतीतिः पञ्चमे भङ्गे सत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वस्य प्रतीतिः, षष्ठे च असत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वस्य प्रतीतिः, सप्तमे भङ्गे क्रमार्पितसत्त्वासत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वस्य प्रतीतिश्च जायते इति श्रीमद्विमलदासोऽपि वदति।[10] काश्मीरशैवदर्शनस्यादिमो ग्रन्थः शिवदृष्टिः विद्यते। तत्र षट्त्रिंशत्तत्त्वानि भवन्ति। तत्र परमतत्त्वमस्ति शिवः शिवस्य शक्तिः शिवादभिन्ना वर्तते, ततः जगदुत्पद्यते इति। यतोहि सोमानन्देनोक्तम्–

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निवृत्तचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद दृक्क्रियः शिवः।।[11]

सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यम् निर्वृतचिद् इत्यादि-विशेषणकलापादिति। स्फुरन्निति धर्मिणो हेतोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणम्। चिद्रूपस्य शिवस्य स्वभावो वर्तते यः विभवः पञ्चविधकृत्यनिर्वृत्तियोग्यता।

शिवस्तु परमतत्त्वं पशुस्तु जीवः स च ग्राहकः पशुः पुर्यष्टकावच्छिन्नं चैतन्यम्, स एव परिमितत्वादणुः चैतन्यात्मतया नित्यः अमूर्तश्च, विश्वात्मतात्यागेनाज्ञः, अस्वातन्त्र्यात् क्रियागुणरहितः अनीश्वरश्च, वेद्यपुर्यष्टात्मनि भिन्न इव रागितया भोगोपायविचिन्तको, मायाकृतत्वात् मायोदरान्तःस्थः। स्वशिवत्वाज्ञानं शिवभट्टारकस्यायुक्तम्, नित्यनिर्मल-स्वभावत्वात्, तदविना मलानामेवानुत्पत्तेस्तदधिष्ठानात्तेषाम्। ततः तद्ज्ञानभागणुः तदैव मायाशक्तिवशात् उत्तिष्ठतीत्याणवमायामलद्वयोद्भवः। कार्ममलश्च तत्प्रभवः। स्वशिवत्वमिवेति इव ग्रहणं व्यपदेशग्रहणं च अज्ञानात्मकमेतत् न वस्तुतः कश्चित् ग्राह्यग्राहकभेद इति वक्तुं शक्यते इति उत्पन्नदेवोऽपि वदति।[12]

काश्मीरशैवदर्शनन्तु वास्तविकरूपेण एकतत्त्वं सदाशिवं स्वीकरोति ततः पञ्चत्रिंशत्तत्त्वानि जायन्त इति। सदाशिवतः अनेकानि तत्त्वानि जायन्त अतः इदं वक्तुं शक्यते यत् यद्यपि मुख्यरूपेण वा पारमार्थिकरूपेण एकतत्त्वस्य प्रतिपादकत्वेऽपि गौणरूपेण अनेकतत्त्वानां प्रतिपादकत्वात् सप्तभङ्गीनयस्यापि निरूपणमत्र दरीदृश्यते इति। अत एवोक्तं सोमानन्देन "अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता"[13] भिन्नोऽप्यभिन्न एवास्मि शिव इत्थं विचेष्टनम् शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधनः।। शिवः कर्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः।।[14] शिव एव फलावस्था व्यापार इति साधुषु। भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः।।[15]

सन्दर्भ

1. स्याद्वादमञ्जरी मङ्गलाचरणम्, पृ. 1
2. आप्तमीमांसा पृ. 56 का. 59
3. सर्वदशर्नसंग्रहः, पृ.147
4. सर्वदशर्नसंग्रहः, पृ.146
5. कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सां. का. सं.
6. सर्वदर्शनसंग्रहः, आर्हतदर्शनम्, पृ.149
7. सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, पृ.3
8. सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, पृ. 2
9. तत्रैव, पृ.3
10. सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, पृ.9
11. शिवदृष्टिः, पृ. 4
12. शिवदृष्टिः- उत्पलदेवकृतवृत्यां द्रष्टव्यम्।
13. शिवदृष्टिः आह्निकम् द्वितीय- का. 1,
14. शिवदृष्टिः सप्तम आ. का. 99 पृ. 219
15. शिवदृष्टिः सप्तम आ. का 100, पृ. 219

भारतीयतत्त्वचिन्तने अनेकान्तवादः तत्खण्डनञ्च

–डॉ. महानन्दझाः*

अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥[1]

वस्तुतः अनेकान्तवादः जैनदर्शनस्य सुमेरुमणिभूतः व्यापकः सिद्धान्तः। आचार्यसिद्धसेनः प्रकाशयति एतन्महत्वम् यत् अनेकान्तवादं विना जगद्व्यवहारः नैव प्रवर्तते। प्रायः न्यायवैशेषिकादि सर्वेऽपि दार्शनिकाः येन केनापि रूपेण अनेकान्तवादसिद्धान्तं स्वीकुर्वन्ति।

तत्रेदं प्राथम्येन को नाम अनेकान्त? इति जिज्ञासायाम् सर्वमनेकान्तात्मकमिति। तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेवसत् तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येव वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर-विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः। अर्थात् यत्र नाना धर्माः तिष्ठन्ति, यश्च नानाधर्मात्मकः सैव अनेकान्तः, तस्यैव वादः अनेकान्तवादः। स च वादः सर्वैरपि दार्शनिकैरङ्गीक्रियते।

वैशेषिकदर्शने स्थलविशेषे अनेकान्तवादस्य सम्माननं दृश्यते। यथाहि पर, अपर, परापरभेदेन सामान्यस्य भवति त्रैविध्यम्। अधिक न्यूनवृत्तित्वरूपयोः परत्वापरत्वयोः सापेक्षत्वमपि वैशेषिकैराचायैरभिमतम्। तत्र द्रव्यगुणकर्मसु त्रिष्वपि वर्तमाना सता जातिः परा, घटपटादिवृत्तिघटत्व-पटत्वादिजातिरपरा, द्रव्यत्वगुणत्वादिजातिस्तु सत्ता जात्यपेक्षया अल्पस्थानवृत्ति-त्वादपरा घटत्वपटत्वाद्यपेक्षया अधिकदेशवृत्तित्वाच्च परा इत्थं द्रव्यत्वादौ परापरे जाती वैशेषिकैः स्वीक्रियते। उक्तञ्च विश्वनाथेन कारिकावल्याम्–

---

* सहायकाचार्यः न्यायविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।।[2]

परभिन्ना च या जातिः सैवाऽपरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते।।[3]

एवञ्च सामान्यस्य न परत्वमैकान्तिकं न वाऽपरत्वमैकान्तिकमिति वैशेषिके नये अनेकान्तवादस्य स्वीकृतिः दृश्यते।

तार्किकैः नैयायिकैः अक्षपादप्रभृतिभिरपि न्यायशास्त्रे अनेकान्तवादस्य स्थानं स्वीक्रियते। न्यायशास्त्रीयमेकं सूत्रमस्ति प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवदिति।[4] या हि तुला कस्यचिद्वस्तुनस्तोलनात् ज्ञापकतया ब्रजति मानताम्, सैव हि यदि तुलान्तरेण व्रजति तोलनीयतां तदा तुलान्तरं प्रमाणीकृत्य गच्छति मेयताम्। यदा मेयभूतेन वस्तुना मानभूतं वस्तु ज्ञाप्यते तदा मेयं मानतां व्रजति मानं च मेयतामिति।

यथाहि—हीरकतोलनाय निर्मिता काचन स्वर्णतुला कदाच्चिल्लोहतुलया शक्यत एव तोलयितुम्। एवञ्च सति तत्र लौहतुलातोलितायां हीरकतोलिकायां सुवर्णतुलायां नन्वेकस्यां सापेक्षतया प्रमाणत्वमपि प्रमेयत्वमपि चेति तत्र कथञ्चित् प्रमाणतायां कथञ्चिच्च प्रमेयतायामपि[5] स्वीकृतायां व्यवस्थित एवानेकान्तवादः तत्र।

नास्तिकदर्शनसोपानश्रेणीषु प्राथम्यमुपादधानाश्चार्वाकाः परमाणुपर्य्यन्तं सर्वत्र चैतन्यमभ्युपगच्छन्तोऽपि जडत्वाजडत्वयोरुभयोर्विकल्पेन जायमानस्या-पामरसाधारणस्य लोकव्यवहारस्य सिद्धये सर्वव्यापकस्य ज्ञानापरपर्यायस्य चैतन्यस्य क्वचित् स्पष्टत्वं क्वचिच्च अस्पष्टत्वमभ्युपगच्छन्ति। लोष्ठादिषु जडा एते इत्येवं जायमानस्य जडत्वव्यवहास्य सर्वेषु प्राणिषु चेतना एते इत्येवं जायमानस्य चेतनत्वव्यवहारस्य सम्पादनं भवितुं नार्हति। सति चैवमेतत् सिद्धं यत् सर्वव्यापकेऽपि चैतन्ये विकल्पेन स्पष्टत्वास्पष्टत्वयोरुभ-योरापातदृष्ट्या विरुद्धत्वेन प्रतीयमानयोः अस्तित्वमवगच्छन्ति। अतः तेऽपि स्थलविशेषे अनेकान्तवादस्य स्थापना स्वीकुर्वन्ति स्वीये दर्शने।

नहि केवलं चार्वाका अपितु बौद्धा अप्येवं प्रत्यक्षानुमानयो- रुभयोर्विकल्पेन भावाभावख्यापकतया प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तो विलोकयितुं शक्यन्त एव स्थलविशेषे अनेकान्तवादसमर्थनम्।

अयम्भावः- बौद्धसिद्धान्ते प्रत्यक्षं प्रति विषयस्यापेक्षिततया भावात्मकस्य विषयस्य सत्वेन भावप्रत्यक्षस्थले भवितुमर्हति प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम्। किन्तु अभावज्ञानस्थले अभावे व्यापकस्य सत्वस्याभावेन तद्व्याप्यस्य विषयत्वस्याप्यभावात् विषयाभावेन प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं न भवितुमर्हति। तत्र अभावनिर्णयः प्रतियोग्यनुपलब्धिहेतुना धूमेन हेतुना वह्निनिर्णय इव जायते। एवं सति क्वचित् प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽपि क्वचिदन्यत्र न प्रामाण्यम् क्वचिच्चानुमानस्य प्रामाण्येऽपि क्वचिदन्यत्र न तस्य प्रामाण्यमिति स्वीकारेण बौद्धदर्शनेऽपि अनेकान्तवादस्य भूमिका न तिरोहिता।

यज्ञसाधनविकल्पद्वारा कर्ममीमांसकैरपि अनेकान्तवादस्य समर्थनमेव क्रियते। यथाहि यवैर्यजेतव्रीहिभिर्वायजेत इति विधिद्वय[6] विचारावसरे कदाचित् यवानां पुरोडाशादि प्रकृतितया यागसाधनत्वं कदाचिच्च व्रीहीणां यागसाधनत्वमिति स्वीकुर्वन्ति मीमांसकाः। एवमेव वैदिकविधिविचारावसरे तयोः विधिवाक्ययोः प्रामाण्याविशेषात् उत्सर्गापवादाभ्युपगमासम्भवाच्च परस्पर विपरीततया प्रतीयमानयोः एकत्रैव यागे एककर्तृकत्वमिति मीमांसासिद्धान्तः; अतः अस्मिन्नपि दर्शने अनेकान्तवादः स्वीकृत एव।

वेदान्तदर्शने तु अनेकान्तवादसिद्धान्तः सुस्पष्टतया प्रतीयते। तथाहि दृश्यमानस्य समग्रस्यापि प्रपञ्चस्य त्रिकालावाध्यतया[7] परमार्थसत्तां ब्रह्मापेक्ष्यासत्यत्वं प्रातिभासिकरज्जुसर्पशुक्तिरजतादिकमपेक्ष्य च सत्यत्वं प्रतिपादयन्ति वेदान्तिनः। अद्वैतवेदान्तसिद्धान्ते त्रिविधा सत्ता पारमार्थिकी सत्ता ब्रह्मणि, व्यावहारिकी सत्ता जगति, प्रातिभासिकी च सत्ता रज्जुसर्पशुक्तिरजतादिषु स्वीक्रियते। तासु त्रिविधसत्तासु सापेक्षत्वाभ्युपगमात् तत्रापि अनेकान्तवादस्य स्थितिः विद्यत एव।

एतावता यद्यपि प्रायः सर्वेऽपि दार्शनिकाः तत्तत्स्थलविशेषे स्याद्वादापरनामधेयस्यानेकान्तवादस्य समर्थनं संवर्द्धनञ्च कृतवन्तः तथापि

मीमांसाश्लोकवार्तिके भट्टकुमारिलेन सर्वज्ञता एवञ्च प्रमाणवार्तिके धर्मकीर्तिना अनेकान्तवादस्य खण्डनं कृतम्।

कुमारिलेनोक्तं मीमांसाश्लोकवार्तिके–

एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥[8]
नर्ते तदागमात्सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना।

अयम्भावः यत् सूक्ष्मादिविषकमतीन्द्रियं केवलज्ञानं पुरुषस्याभिमतं तज्जैनमान्यतानुसारेण आगमं विना न सिद्ध्यति, आगमश्च तद्विना नोपपद्यते। अतः सर्वज्ञत्वं परस्पराश्रयदोषेण दूषितं विद्यते। एतद्दूषणं जैनदार्शनिकैः कथं निरस्यते?

प्रमाणवार्तिके धर्मकीर्तिना अनेकान्तवादमाश्रित्याक्षेपं कृतम्–

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥[9]

अर्थात् समस्तं वस्तुजातं यद्यनेकान्तात्मकं स्यात् तदा दधि भोक्तुमाज्ञप्तः उष्ट्रमत्तुं कथं नाभिधावति? भगवान् बुद्धः पूर्वजन्मनि मृगः आसीत् अन्यस्मिन् जन्मनि स एव बुद्धः, यदि समस्तं वस्तु अनेकान्तात्मकं भवेच्चेत् कथं केनापराधेन मृगः खाद्यः कथञ्च बुद्धो वन्द्यः? अतः सर्वं वस्तु नह्यनेकान्तात्मकं भवितुं शक्नोति।

सन्दर्भ

1. स्वयंभूस्तोत्रम्-18.18
2. कारिकावली- का.सं.-8
3. कारिकावली- का.सं.-9
4. न्यायसूत्रम्- 1.2.16
5. न्यायभाष्यम्- 1.2.16
6. मीमांसापरिभाषा।
7. त्रिकालावाध्यत्वं सत्यत्वम्।
8. मीमांसाश्लोकवार्तिकम्।
9. प्रमाणवार्तिकम्।

तार्किकदृष्ट्या स्याद्वादसमालोचना

–डॉ. रामचन्द्रशर्मा*

जैनदर्शनमनेकान्तवादिदर्शनमस्ति, एतन्मतानुसारं कस्यापि वस्तुनः एकान्तेन ज्ञानं न भवितुमर्हति। सर्वस्य वस्तुनोऽनेके पक्षा भवन्ति, तेषु कस्यचित्पक्षस्यैव ज्ञानं जीवानां भवितुमर्हति। यथोक्तम्–

एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।
अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरं सर्वसंविदाम्॥

अतः सर्वाणि ज्ञानानि ज्ञातुर्दृष्टिकोणाधारितानि एकपक्षीयाण्येव भवन्ति। किमप्येकान्तात्मकं ज्ञानं वस्तुनः सर्वपक्षीयस्वरूपप्रकाशकं न भवितुमर्हति। अतः स्याद्वादमाश्रित्यैव वस्तुनः यथार्थस्वरूपनिर्धारणं भवितुमर्हति, नान्यथा। तद्यथा–

नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते॥[2]

अत्रविषये ''हस्तिदर्शनन्यायः समुपस्थाप्यते, तद्यथा-केचन अन्धा हस्तिनो विभिन्नानि कर्णपुच्छोदरपादात्मकानि अङ्गानि स्वस्पार्शनप्रत्यक्षेण विज्ञाय हस्तिविषयकं स्व-स्व-परमार्थस्वरूपविज्ञानं निर्धारयन्ति, यथा कर्ण-ज्ञाता ''सूर्प इव हस्ती'', पुच्छज्ञाता ''रज्जुरिव" उदरबोद्धा "भित्तिरिव" पादबोद्धा "स्तम्भ इव" इति, किन्तु वस्तु तत्तद्रूपेण भूयमानोऽपि हस्ती न समग्ररूपेण तत्तद्रूप एव, अपितु समग्ररूपता काचिद् भिन्नैवेति। एवमेव विभिन्नैकान्तवादिदर्शनान्यपि स्व-स्वसिद्धान्ततया परमार्थतत्त्वस्य एकान्ततया निर्वचनं कुर्वन्ति सन्ति परमार्थतत्त्वस्य वस्तुतः स्वरूपापोहनमेव कुर्वन्ति।

---

* सहायकाचार्यः न्यायविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

अतो जैनदर्शनानुसारं जीवानामसर्वज्ञानां सर्वमपि ज्ञानं यत्किञ्चित्सापेक्षमेव न तु परमार्थदर्शनं, कस्यचिदपि वस्तुनः सत्ता "देश-कालभाव-गुणादिभिः सापेक्षैव गृह्यते। उदाहरणाय कस्यचित्पुरुषस्य एवं ज्ञानं भवति यत्- "अमुकनगरे बसन्ते एकः रक्तः घटः अस्ति" इति, अत्र घटः "देशतः" सापेक्षः तस्मिन् नगरे एव गृह्यते न तु अन्यत्र, "कालतः" बसन्ततौं एवास्ति नतु शीततौं, गुणतः "रक्त" एवास्ति नतु पीतः, द्रव्यतः "स्वरूपेणै" वास्ति नतु पररूपेण, इत्येवं सापेक्षतया तस्य किञ्चिद्रूपेण "अस्तित्वं", किञ्चिद्रूपेण च "नास्तित्वं" प्रतीतिपथमायाति, अतः तस्य अनिश्चयात्मिका अनेकान्तरूपतैव अवधारणीया, नतु एकान्तरूपेण तस्य सत्तास्वरूपं सिद्धान्तनीयम्। अत एवोक्तम्-

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणो प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथार्हतः॥[2]

अस्य सिद्धान्तस्य संस्थापनाय सप्तभङ्गिनयः समुपस्थाप्यते। तद्यथा–

"स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्तिचाक्तव्यः।" - इति।

अत्र "स्यात्" इति शब्दो निपातः तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्त-द्योतकश्चास्तीति बोध्यम यथोक्तम्–

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः॥[3]

अतः ''स्यात्'' इत्यस्य कथञ्चिदित्यर्थोऽवसेयः। तद्यथा–

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधेः।[4]
सप्तभभङ्गिनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत्॥

अस्य नयस्य स्पष्टीकरणं कुर्वता अनन्तवीर्येण सप्तभङ्गीनां प्रयोजनं समुपदार्शितम्। तद्यथा–

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते।।

क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः।।

आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः।।
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते।।[5] इति।

एतन्मते वस्तु यदि एकान्ततया सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मना अस्ति तदा सर्वस्य सर्वेण सह सदा सम्बन्धात् उपादित्साजिहासाम्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्याताम्! अतः एकान्तपक्षः व्यवहारविरोधादनुभवविरुद्ध एव, अनेकान्त-पक्षे तु वस्तुनः सदा सापेक्षभावात् कयाचिदपेक्षया तत् कदाचित्, केनचित्, कथञ्चिदुपादतुं हातुं वा शक्यते। इत्येवं व्यवहारानुरोधेन सामञ्जस्याय अनेकान्तपक्ष एव श्लाघीयान् इत्येव श्रेयसः पन्था इति।

अत्र तार्किकदृष्ट्या किञ्चिद्विचार्यते। अनेकान्तदर्शनेन यदि वस्तुतः युगपत्सत्त्वमसत्त्वञ्चावधार्यते तदा तदनुभवविरुद्धं, नहि एकस्मिन् परमार्थसति परमार्थसतां युगपत्सदसत्त्वादिधर्माणां समावेशः सम्भवति। यदि उच्यते यत्सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धयोः समुच्चयासम्भवे विकल्पः सम्भवति इति, तदप्ययुक्तम्, ''वस्तुनि विकल्पाभावः'' क्रिया हि विकल्प्यते न तु वस्तु इति न्यायात्। यद्युच्येत, द्रव्यात्मना तस्य सत्त्वं पर्यायात्मना च तदभाव इत्युमयमप्येकस्मिन्नुपपन्नमिति, तदप्यसत्, देशकालभेदेन कस्यचित्सत्त्वम-सत्त्वं वा वस्तुनः स्वभावः, न तु समानदेशकालयोः युगपत्कस्यचित्सदसत्त्व-सम्भवः। यद् यस्मिन् देशे काले वा येन रूपेण प्रतीयमानं, तत्तस्यैकान्तिकं रूपं, तेनैव तस्य व्यवहारविषयता, नतु अन्यदेशकालसापेक्षधर्मान्तरस्य तस्मिन् तत्कालवच्छेदेन प्रतीयमानता, व्यवहारो वा। अतः तत्तद्देशकाल-सापेक्षविरुद्धधर्मावगाहनात्मकमनेकान्तदर्शनं वस्तुतोऽनुभवविरुद्धम्। यद्युच्येत यद् एकस्य वस्तुनः ह्रस्वत्वदीर्घत्ववद् अनेकान्तत्वं स्याज्जगतः इति, तदपि न युक्तम्, तत्रापि प्रतियोगिसापक्षतयैव तादृशी प्रतीतिः। यथा त्र्यणुकं द्व्यणुकापेक्षया ''दीर्घं'' चतुरणुकापेक्षया च ''ह्रस्वम्'' इति, न तु

निरूपाधिकविरुद्धधर्मत्वेन एकत्र तयोः प्रतीतिः। घटादिवस्तुविषयं सापेक्षं सदसत्त्वविषयकं ज्ञानं भवितुमर्हति, किन्तु जगतः सदसत्त्वविषये प्रतियोग्य-भावात्सापेक्षमनेकान्तदर्शनं न युक्तिसहम्। किञ्च-अनेकान्तपदेन "न एकान्त इति अनेकान्त" इति एकान्तप्रतियोगिकोऽभावः प्रत्याय्यते, स च स्वप्रतियोग्येकान्तज्ञानसापेक्षज्ञानविषयतयैव प्रतिभासितुं शक्नोति, निष्प्रतियोगिकाभावस्य प्रतिभासविषयत्वाभावात्। तथा च तत्प्रतियोग्येकान्त ज्ञानस्यावश्यं निरूणीयत्वात् क्वचिदेकान्तः ग्राह्य एव, स च जैनदर्शने क्व गृह्यते? इति निरूपणीयम्। यदि कुत्रचिद्गृह्यते तदा "सर्वमनेकान्तम्" इति प्रतिज्ञाभङ्गः, न गृह्यते चेत् "अनेकान्त" इति व्यवहारस्यैव लोपः।

किञ्च- अस्य सिद्धान्तस्य संस्थापको मूलभूतः सप्तभङ्गिनयः स्वयमेकान्तोऽनेकान्तो वा? यदि एकान्तस्तदा "सर्वमनेकान्तम्" इति प्रतिज्ञाव्याघातः। सोऽपि अनेकान्तश्चेत्, तस्य अनेकान्तत्वेन निश्चितस्वरूपत्वाभावात् न तस्य सिद्धान्तसाधकता इति उभयतः पाशारज्जुः स्याद्वादिनः।

अपि च पदार्थानां निश्चितसंख्यावधारणं, जीवात्मनः देहपरिमाणत्वा-वधारणन्तावदेकान्तवाद एव नत्वनेकान्तवादः। आत्मनश्चैतन्यविषयेऽप्ययं नयः सम्प्रसारणीयः, "स्याच्चेतनः" स्यादचेतन" इति, तच्च सिद्धान्तविरुद्धम्, तस्य अचेतनत्वानङ्गीकारात्। तथा च यथा आत्मनः एकान्तेन चैतन्यं देहपरिमाणत्वञ्चाङ्गीक्रियते तथा तदितराणां घटपटादीनां तद्देशकालसापेक्षै-कान्तत्वानङ्गीकारे को ह्ययं महानायासः? किञ्चानेन दार्शनिकदृष्टौ अति-शयाधानं यदभ्युदयनिःश्रेयसाय कल्प्येत? धर्मदर्शनं जीवनदर्शनञ्चाभ्युदय-निःश्रेयसहेतुत्वेन व्यवतिष्ठते तदर्थमियं प्रमाणनयचर्चा! लोके हि सर्वैरिद-मनुभूयते यत्- प्रवृत्त्यर्थं निश्चितैकान्तदर्शनमेव युज्यते, नतु सांशयिकमनेकान्तदर्शनम्, नहि कश्चिदपि- "स्यादस्ति स्यान्नास्ति" - इति विकद्धकोटिकं ज्ञानमवगाहमानः कुत्रचित्प्रवर्तते यावद् वस्तुविषयकमेककोटिकं ज्ञानं न जायते। संशयः विचाराङ्गत्वेन प्रवृत्त्यङ्गं भवितु मर्हति, किन्तु न केवलं संशयमात्रम्, संशयपूर्वकविशेषदर्शनेन "अयमित्त्थमेव" इति निश्चयानन्तरं निष्कम्प्रवृत्तिर्जायते। दर्शनञ्च यदि निष्कम्प्रवृच्यङ्गं स्यात् तदा तस्य दर्शनत्वं स्यात्! अन्यथा

निष्कम्पसफलप्रवृत्तिजनकत्वाभावाद्दर्शनाभासतैव तस्य स्वीकार्या। त्रैकालिकानन्तधर्मविज्ञापनार्थमयं नय इति चेदेकास्मिन् धर्मिणि एकदैव विरुद्धधर्मावगाहनेन न तस्यानन्तधर्मात्मकत्वप्रतीतिरपितु संशयास्पदतैवाबुध्यते!

यश्चात्र "हस्तिदर्शनन्यायो मनीषिभिः प्रयुज्यते, सोऽपि नैकान्तदर्शन-व्याघातकम्। तथाहि-अन्धस्य पूर्वं यथा अन्यसाहाय्येन हस्त्यवयसादृश्य-प्रतियोगिनां स्तम्भादीनां यथार्थप्रतीतिः तथैव चक्षुष्मत्साहाय्येन यावद्धस्तिस्पर्शनप्रत्यक्षेणायमेतावानवयवी हस्तिपदवाच्य इत्येवं यथार्थहस्ति-समग्रबोधो निष्पादयितुं शक्यते। स्वगवेषितैकदशीयतादृशज्ञानन्तु स्वप्रमाणसामर्थ्याभावकृतमेवेति मन्तव्यम्। प्रमाणसामर्थ्यञ्चसर्वथासर्वविध प्रमाणसामग्रीसंवलितत्वम्, तथा च चाक्षुषसामर्थ्यसंवलितस्य न तथैकदेशे तेन रूपेण एकान्ततया हस्तित्वप्रत्ययः, अपितु सर्वाङ्गसंवलिततादृशपिण्ड एव। अतः परमार्थदर्शनाय प्रमाणसामर्थ्यं समर्जनीयं, नतु परमार्थस्य तादृशानिश्चयदर्शनमेव दर्शनत्वेनाङ्गीकरणीयम्। दर्शनसामर्थ्यञ्च तादृशसमर्थोप. देशसाहाय्येनैवार्जयितुं शक्यं, न स्वगवेणामात्रेण। तच्च नित्यनिर्दोषश्रुति. प्रामाण्यस्वीकारेणैव, नान्यथा। परमार्थदर्शने श्रुतेरेव लोचनरूपत्वात्। तद्यथोक्तम्-

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥[6]

परमार्थदर्शनाय संशयोऽप्यावश्यक एव। तथा हि-

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥[7]

संशयं विना निश्चयार्थिनी प्रवृत्तिरेव न भवितुमर्हति मूढ इव पशुप्रवृत्तिमेवावगाहमानो लोको यथाकथञ्चित् संसरति। यः कश्चिन्मनीषी संशयपूर्वकन्यायप्रयोगैः श्रुत्यर्थं समवधारयन्नग्रेसरति स एवाभ्युदनिःश्रेयस-रूपाणि भद्राणि पश्यति, तमनुवर्तमानोऽन्योऽपि च। किन्तु यः कश्चित्प्रवर्तमानो केवलां संशयात्मिकामेव वृत्तिमभिधत्ते सः स्वलक्ष्यात्पतितोऽधोगतिम्प्राप्नुव-न्नात्महा भवति, अत एवोक्तं ''यदि जीवति'' इति। अत एव भगवता जगद्गुरुणा सम्प्रोक्तम्।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।[8]

अतः देशकालसापेक्षसामान्यविशेषोभयधर्मविशिष्टवस्तुनः एकान्तदर्शन-मेव परमार्थदर्शनं, तच्च ''एकमेवाद्वितीयमिति'' श्रुत्यनुरोधेन जगज्जन्मस्थितिलय-कारिणि परमेश्वरेऽनन्ते पर्यवस्यतीति शम्।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

।। ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः।।

सन्दर्भ–

1. सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शनम्।
2. तत्रैवोद्धृतम्।
3. स्याद्वादमञ्जरी - कारिका 30
4. सर्वदर्शनसंग्रहः, आर्हतदर्शनम्।
5. तत्रैवोद्धृतम्।
6. हितोपदेशः -10
7. तत्रैव, मित्रलाभः, श्लोक-सं.-7
8. श्रीमद्भगवद्गीता - 4.40

साङ्ख्ययोगदर्शने स्याद्वादः

–डॉ. रविशंकरशुक्लः*

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन्,
वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे,
सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥

वैदिकवाङ्मये दर्शनानामतीव महत्त्वं विद्यते। दर्शनेषु जैनदर्शनमपि स्वीयं प्रमुखं स्थानं भजते। तत्र विवेचनीयविषयेषु जैनदर्शने स्याद्वादोराद्धान्तः प्रधानतया स्वीकृतः, परञ्चायं स्याद्वादः ''एकं शास्त्रमन्येन शास्त्रेण प्रवृत्तम्'' इति न्यायेन साङ्ख्योगदर्शनेऽपि प्रच्छन्नतया प्रतिभाति। योगसूत्रेष्वपि ''कृतार्थ प्रति नष्टमाप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्'' इत्यत्र प्रधानस्य नष्टानष्ट विचारः उपस्थापितः। साङ्ख्यकारिकायामपि ''रङ्गस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते प्रकृतिः'' अत्रापि प्रवृत्ताप्रवृतविषयस्य भानं दृश्यते। सा प्रकृति : रङ्गस्य दर्शयित्वा तस्मान्नृवृतान्निवर्तते विरमति, द्रष्टाहमनेनेति कृतप्रयोजना सती, तथा पुरुषस्यात्मानं संप्रकाश्य देवादिभावरूपं गता निवर्तते प्रकृति मुक्तपुरुषं प्रति नष्टमपि प्रधानं नैव प्रणश्यति यतस्तदन्यः प्रतीयते। पुरुषहेतवे एव दृश्यप्रयोजनमिति। किं तर्हि दृश्यस्य परिणतिराहित्याद् जागतिका सर्वेऽपि दृष्टारो विमुच्यन्त इति? समाधत्ते–ज्ञानोदयेन अविद्याजनिते भ्रमे विनष्टे दृश्यपदार्थाः प्रणश्यन्त्येवेति निश्तिम्, परमियं स्थिति एकस्य मुक्तपुरुषस्य कृत एव वेद्या। परिपूर्णज्ञानरूपाया ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः समुदयो दृश्यस्वरूपप्रकृतिनाशश्च एकस्मिन्नेव जीवपिण्डे जायते।

---

* सहायकाचार्यः सांख्ययोगविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

असंख्यजीवपिण्डेषु प्रकृतिपुरुषयोरनाद्यसम्बन्धस्तिष्ठत्येव अतो मुक्तिमापन्नस्य द्रष्टुर्दृष्यं विनश्यति, परन्तु द्रष्टृदृश्यसम्बन्धावच्छिन्ना अनन्तजीवा अनादितोऽनन्तकालपर्यन्तं तिष्ठन्त्येव।

कोऽपि पदार्थः स्वरूपत सर्वदा सत् एव तिष्ठति। अनेकान्तवादस्याद्- वादयोर्मते भेदो नास्ति। अयं स्याद्वाद एकांशेन साङ्ख्ययोगदर्शने आभासते इति। अन्यत्रापि ईशकठमुण्डश्वेतांश्वतरोपनिषत्सु राद्धान्ताः इमे संक्षेपेण विवेचिताः सन्ति। स्याद्वादसिद्धान्तस्यः खण्डनं योगसूत्रे कृतवानस्ति पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्व संख्याऽस्ति नास्ति वेति विचारणे पक्षेऽस्ति पक्षान्तरे नास्ति वेति स्यात्। पक्षे च वक्तव्याः पदार्थाश्चेत्! नाऽवक्तव्या ते भवन्तीति। अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्! उच्यन्ते चेदवक्तव्या इति प्रतिषिद्धम्। इत्यतस्तथाविधं पूर्वापरविरुद्धं विपरीतञ्च सप्तभङ्गीनयं प्रलपन् वक्ता विभ्रान्त इति सिद्धयति। तस्मान्न तन्मतं तत्त्वज्ञानोपयोगीति[1] तथैव साङ्ख्यकारिकायामपि आह पञ्चानामस्तिकायानां तन्मतं न संगत भवतीति।[2] स्याद्वादस्य सम्बन्धः विचारणीय सराण्या विदुषां मनसि अयं विचारः समुदेति। कोऽयं स्याद्वादः। अस्य स्याद्वादस्य सम्बन्धः सूक्ष्मेक्षिकया मन्ये सांख्यदर्शनस्य सत्कार्यवादेन सहैव घनिष्ठः सम्बन्ध, प्रतिभाति। जैनः किमपि वस्तुजातं इह अस्ति नास्ति, सदसदोः बहु भेदोऽपि नास्ति। स्वसिद्धान्तं सांख्यदर्शनस्य। सिद्धान्तेन सह, कथं समन्वयति। अयं विचार योगदर्शनस्य सांख्यकारिकायाः सत्कार्यवादरूप प्रसंगे निरूपयन्ति। ''जैनास्तु असतः कथञ्चितथायितः पद्गलाख्य परमाणुतः सतोः भावस्योत्पत्तिमङ्गी कुर्वन्ति।

सप्त चैषां पदार्थाः जीवाऽजीवाऽऽस्रवसंवरनिर्जरबन्ध मोक्षा इति। संक्षेपतस्तु द्वावेव-जीवाऽजीवाख्याविति। सप्तानामत्रैवाऽन्तभावात्।। तमिमं प्रपञ्चं प्रकाशन्तरेणापि विवृण्वन्ति, यथा जीवास्तकायः षुद्गलास्तिाकयः, धर्मादऽस्तिकायः अधर्माऽस्तिकायः आकाशाऽस्तिकायश्चेति। तत्र च सर्वत्र सप्तभङ्गी न्यायमवतारयन्ति। यथा स्यादास्त, स्यान्नास्ति स्यादास्ति च नास्ति चाऽक्तव्व्यश्च। तमिमं सप्तभङ्गीनयं ''स्याद्वादइत्यभिदधति। च नास्ति चाऽव्यक्तव्यश्च। स चायं वादोऽपि न युक्तः। यतो हि एकस्मिन्धर्मिणि सदसत्त्वादि। परस्पर विरुद्धधर्मा सामानाधिकरण्यतया स्थातुं योग्याः। यदि

वस्तु स्वभावात्ः स तन्नहि कदाचित्केनाऽपि असदिति कर्तुं शक्यम्, यद्धि वस्तु अस्तिपद विषयं तत सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मना स्वरूपेणाऽस्त्येवेति, न तु नास्तीति विषयम् यच्च असन् नास्तीति भवति गगनकुसमादिकं तन्नहि कदाचिदपि सदस्ति' इति भवितुं शक्यम्। तस्मात्परस्पर विरुद्धानां स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यान्नास्ति इति्। वक्यानामुन्मत्तप्रलपितत्वमेवाऽवशिष्यते।

किञ्च–'असतः कथञ्चित्स्थायितः सतः भावस्योत्त्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति। तत्रेदं विचारर्यते—कथञ्चित्स्थायिपरमाण्वादिकारणात् सद्भावो घटादि सत्परुद्यते, सचाऽयं सर्वदा सन्! असन वा! यदि सन् तदा तस्य कारणेनाऽपि सता भवितव्यम् तथा चाऽस्मत्सिद्धान्तसिद्धिः, भवत्सिद्धान्तहानिश्च, यदि चाऽसत्कार्यम् तदास्य सत्वं कर्तुं नाहि केनाऽपिशक्यम् नहि शिल्पिसहस्रेण्ऽप्यसतः खपुष्पस्य सत्वं कर्तुं शक्यते। तथा च घटस्वरूपमेव नोत्पद्येति। तद्युच्येत असत्कारणवाद सन्व घट इत्युत्पस्यते। तदा तु वैनाशिक विजयः। न च भवन्मतेऽपि असत्ः सतः कार्यकारणभावोयुक्तिसहः संभवति। प्रत्युत विरुद्धयोः कार्यकारणभावविरहान्न काऽपि स्वमत सिद्धिः। तस्माद दृश्यमानः स्नेन घटः स्वकारणात् सद्रूपात् प्राविर्भवतीति सिद्धान्तः समञ्जस इति। तथाचायं। सिद्धान्तः सत्तर्कैः स्वतः निरस्तो जातः शास्त्रेषु कश्चन् नियमो भवति। यस्य कस्याऽपि सिद्धान्तस्य खण्डनं क्रियते। तद्विपरीतस्य सिद्धान्तस्य स्वयमेव पुष्टिर्भवतीति सुतरां सिद्धम्।

जैनदर्शने पदार्थनिरूपणावसरे आचार्याः सतपदर्थमङ्गीकुर्वन्ति। तन्मध्ये संवरनिर्जन, वन्ध, मोक्षस्याऽपि चर्चां कुर्वन्ति।

''सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान् पुद्गलानादते स बन्धः' चार्वाकाः स्थितिरनुभवः प्रकृतिः प्रदेशश्चेति चत्वारो बन्धाः'' मिथ्यादर्शनाऽविरति प्रमादकष्या बन्धहेतवः, बोधात्मको जीवः अबोध त्मकस्त्वजीव इति। बोधात्मकस्य जीवस्य मिथ्यादर्शन निमित्तो बन्धः प्रथमः इत्येवमादि निरूपयन्ति। तन्न युक्तम्–यतः मिथ्यादर्शनं विपरीतज्ञानम् तन्निमित्तो बन्धश्चेत् तद्यदि नित्यम् तहर्यनिर्मोक्षापत्तिः। नित्यं चेत्! तदा क्षणिकं तत्कृतस्य बन्धस्य चिरस्थायित्वाऽसंभवात् निरन्तर बन्धानुभव विरोधः।

एवं प्रमादानिमित्तो द्वितीयोबन्ध इति। तदपि तदा न युक्तम् प्रमादतोऽनवधानता सा चाऽव्यस्थारूपश्चितधर्म:। तद् विरहदशायामपि बन्धदर्शनेन व्यभिचारान्न तस्य वन्धहेतुत्वम् कषाया: क्रोधादयश्चित्तधर्मास्तन्नि-मित्तस्तृतीय वन्ध इति। तदपि न चित्तकषायानामनेकेषा नाम बन्धहेतुत्वाऽपेक्षया लाघवादेकस्यैव तद्धर्मभूत दु:खस्यबन्ध तद्धेतुत्कल्पनाया लाघवादिति। सर्वं चतुरस्रम्।

उपसंहार:

पातञ्जलयोग सूत्रव्याख्यानवसरे तथाच कारिकाया:– सत्कार्यवादस्य प्रसंगे यत्साम्यं उभयो दर्शनयो: परिलक्षितं भवति। तेनेदमवगम्यते 'एकं शास्त्रमन्यत् शास्त्रेषु प्रविष्टमिति। क्ववचित् साम्यं क्वचिच्च वैमत्यं भवत्येव दर्शनानां समेषां समीक्षणदृष्ट्या यथैकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, इति न्यायेन सर्वाणि दर्शनानि आस्तिकानि, नास्तिकानि च स्व सिद्धान्त प्रस्फोटनकाले स्वमतस्थापनाय च किञ्चिदेव, विरुद्धावभासं सर्वत्र भवति।

सांख्ययोगदर्शने समेषां दर्शनानां सिद्धान्तानाञ्च निष्पक्षतया उदयभावनं उपस्थापनं करोति, यत्र यत्र अवैदिकमतं सङ्गच्छते। तनिरस्य सिद्धान्तस्थापनमेव करोति।

अयं स्याद्वाद: सत्यकार्यवादान्तगर्तत्वात् परिलक्षितो भवति। इति शम्।

सन्दर्भ

1. योगसूत्र 2/22
2. साङ्ख्यकारिका 59
3. योगसूत्र 2/4
4. साङ्ख्यकारिका 8

स्याद्वादस्य श्रीशाङ्करभाष्यदिशा समीक्षणम्

–डॉ. प्रभाकरप्रसादः*

अनादिनिधनं ब्रह्म स्वतन्त्रं निरुपाधिकम्।
पूर्णं तत्त्वं सदा नौमि मायामोहविवर्जितम्॥

वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यनिरूपणमुखेन मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शन-बोधनार्थं प्रवृत्तं शारीरकमीमांसाशास्त्रम्। अस्य च शास्त्रस्य द्वितीयोऽध्यायः विरोधपरिहाराध्यायः, अत्र च साङ्ख्यपक्षस्य नैयायिकानां बौद्धानाञ्च पक्षस्य निराकरणं कृतम् एवं जैनमतस्यापि निराकरणं कृतम्। अत्र च ''न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तत अपि त विधेयं स्तोतुम् इति निन्दान्यायेनैवाचार्याणां प्रवृत्तिः। अतः जैनमतस्य खण्डने आचार्याणां प्रवृत्तिर्नास्त्यपि तु स्वपक्षस्थापने तत्रैव लोकानां प्रवर्तन एव। अत्र व्याससूत्रम् ''नैकस्मिन्नसम्भवात्'' इति एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मयोः समावेशस्यासम्भवादिति सूत्रार्थः। जैनदर्शने चैकस्मिन्नेव धर्मिणि विरुद्धधर्मयोः समावेशः स्वीक्रियते एव। वस्तुनः अनेकान्तत्वमभ्युपगम्य हि स्याद्वादः जैनाचार्यैं प्रवर्तितः। यथा साङ्ख्यनये कार्यमुत्पत्तेः प्रागपि सद् इति सत्कार्यवादमाश्रित्य अभिव्यक्तिवादेन परिणामवादेनोत्पत्तिव्यवहारो निरूप्यते यथा वा नैयायिकाः कार्यमुत्पत्तेः प्रागसदिति असत्कार्यवादमाश्रित्यारम्भवादेनावयविनामुत्पत्तिं वर्णयन्ति तथैव जैनाचार्या वस्त्वनेकात्मकमिति निर्धारितरूपमेवाश्रित्य सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति। इदञ्च यथार्थम्। आचार्यामृतचन्द्रैरुक्तम् ''अनेकान्तात्मक-कार्थकथनं स्याद्वादः। इति स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य, स तु सर्वमनेत्येकान्तात्मकमित्यनुशास्ति। तत्र यदेवं सत्तदेवासत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेवानित्यं तदेव नित्यमित्येक-वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनम्अनेकान्त इति च। एवञ्च

* सहायकाचार्यः सर्वदर्शनविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

स्याद्वादःसंशयवादो नास्ति अपि तु घटः अस्ति इति कथने घटः सत्तावान् इति बोधे घटे त्रैकालिकसत्तायाः बोधः स्यान्न कदापि सत्ताभाववानतः एवं निरूपाधिकसत्तावत्त्वबोधकमस्तिपदं देशान्तरेऽपि सत्त्वस्य बोधकं स्यादतः घटः स्यादस्तीति वक्तव्यमिति स्याद्वादस्याशयः वस्तुनिष्ठधर्माणां सापेक्षत्वबोधकोऽयं स्यादवादः। गुणगुणिनोः भेदाभेदवादिनां मतेऽपि एकत्रैव भेदः स्वीकृतः एकान्तेनेति, वक्तुं न शक्यते न वैकान्तेन तयोरभेद इति अतः अर्थात् अनेकान्तवादः स्वीकृतो भवति। कारणात्मना जगत् सत्यम् कार्यत्मना मिथ्येति वादिनां मतेऽपि कथञ्चिदनेकान्तवादः सिद्ध्यत्येव। परिणामवादिनां मते नित्यत्वमनित्यत्वञ्चैकत्रोपाधिभेदेन भवतीति कथञ्चिदनेकान्तवादः स्वीकार्य एव। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता-काभववादिनां मतेऽपि घटत्वेन पटो नास्ति पटत्वेनास्तीति कथञ्चित् स्याद्वाद उक्तप्राय एव भवति। स्याद्वादस्यायमाशयः श्रीभगवत्पादाचार्यैर्ज्ञात एव तथा हि भाष्यम् -''नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हतीति''[2]इति शङ्काग्रन्थेन स्पष्टं प्रतीयते भगवत्पादैः संशयरूपत्वं स्याद्वादस्य नाङ्गीकृतमिति।

स्याद्वादे स्यात्शब्दः तिङन्तप्रतिरूपको निपात इति भाष्यकारैः ज्ञातमेव स्यादिति टीकाग्रन्थेन स्पष्टं बोध्यते वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तिङन्तप्रतिरूपकः। इति जैनाचार्याणां ग्रन्थ उद्धृतो दृश्यते। एवञ्चेदं स्याद्वादविषये तत्त्वं भगवत्पादैः तन्निबन्ध-कारैश्च ज्ञातमेवेति भाष्यकाराणामिदमज्ञातमित्याक्षेपः अतिसाहसमेव। अस्य निराकरणमेवं कृतम् निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषादस्य स्याद्वाद्स्य प्रसक्तेः सम्भवादर्थतः निर्धारणमप्यनिर्धारणात्मकं स्याद्। निराकरणस्यायमाशयः— परमार्थतः स्याद्वादो नास्तीति तेषामप्याशयः, वस्तुनः सापेक्षत्वं धर्मेषु अस्तीति प्रतिपादनार्थमयंवादः अपेक्षितः आत्मा, ज्ञानं दर्शनादिगुणेषु स्याद्वादो नास्ति, अनेकान्तस्याप्य-नेकान्तत्वमस्तीति। वेदान्तसिद्धान्ते तु यदस्ति सत्यं तत् सर्वदा सर्वत्र सर्वथाऽस्त्येव यथा ब्रह्म, यन्नास्ति तत् क्वचित् कथञ्चित् कदाचित्केनात्मनापि नास्त्येव, 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः इति गीतोक्तेः, यच्च यन्नास्ति तदपि क्वचिद् अस्तीति यद्व्यवह्रयते तद्व्यवहारार्थमेव न तु

परमार्थतः। व्यवहारार्थं पारमार्थिकमस्तित्वं नापेक्षते काल्पनिकास्तित्वारोपेणापि वयवहारः उपपद्यते। ''प्रमाणादिसत्त्वाभ्यु- पगमौदासीन्येन व्यवहारनियमेन समयं बद्धवा प्रवर्तितायां कथायामित्यादिना ''श्रीहर्षमिश्रैः संव्यवहारार्थं पारमार्थिकास्तित्वबोधनं नापेक्षते इत्युक्तम्।

''एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिकामतिः'' इति न्यायेन वादिप्रतिवादिभिः कोटिद्वयं कोटिचतुष्टयं वा पर्यन्तं वादेन यन्निर्णीतं तत्तावदर्थात् बाधावागमपर्यन्तं प्रामाणिकमिति मत्वा व्यवहार उपपद्यते। अत एवानधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वं स्वीकृतम् ''तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता'' इति स्वतः प्रामाण्यवादिभिः भ्रमात्मिकाया बुद्धेरपि बाधपर्यन्तं प्रामाण्यं स्वीक्रियत एव। निष्कम्पप्रवृत्तिं प्रति अत्रेदमस्तीति ज्ञानं पर्याप्तम् तेन च प्रत्ययेन वस्तुन अबाध्यतं न सिद्ध्यति। अतः व्यवहारः इदानीमत्रेदमस्तीति बुद्ध्यैव भवितुमर्हति, तदर्थं तत्प्रकारान्तरेणासदपि इत्यादिविषयतत्त्व बोधनं नापेक्षते। एतेनेदमपास्तम् कम्बलं कथमस्तीति प्रश्ने मृदु इति उत्तरं भवति, यद्यपि तत् कृष्णादिवर्णयुतमपि अस्ति, तेनेदं ज्ञायते वस्तुनो याथार्थ्यबोधनं कम्बलं मृदु इति बोधने न सिद्ध्यतीति तत्रोच्यते तस्य वस्तुनः याथार्थ्यबोधस्य अपेक्षा नास्त्येव, सामान्यत तस्यास्तित्वबोधनेनैव सिद्ध्यति अतः तदर्थं वस्तुनो धर्मान्तरवत्वप्रतिपादनं नापेक्षत एव अतः सापेक्षत्वबोधकं स्यात्पदं नापेक्षितमेव। एवञ्च स्याद्वादानङ्गीकारेणापि व्यवहारः सिद्ध्यति।

किञ्च स्याद्वादिभिः चेतनाचेतनयोरर्थात् आत्मा स्यात् चेतनः इत्यत्र वास्तविकविरोधस्य सत्वात् नाङ्गीक्रियते। नित्यात्वानित्यत्वयोस्तु विवक्षाभेदेन सम्भवादेकत्र स्याद्वादः स्वीक्रियते। तत्र विरोधो द्विविधः वध्यघातकभावः सहानवस्थानरूपश्च चेतनत्वाचेतनत्वयोः नित्यत्वानित्यत्वयोरपि समानः इति कथं भेदः व्यवस्थाप्यत इति स्याद्वादः सर्वत्रानुसरणीय इति नियमो नापेक्षते इत्येव निराकरणस्याशय उपाधिभेदेनैकत्र विरुद्धधर्माणां समावेशः स्वीक्रियत एव। अतः सर्वत्रेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति जैनाः तन्नापेक्षते इत्येवाचार्याणां मतं प्रतीयते।।

सिद्धान्तरीतिषु मया भ्रमदूषितेन स्यादन्यथापि लिखितं यदि किञ्चिदत्र संशोधने सहृदया सदया भवन्तु सच्छास्त्रतत्त्वपरिशीलननिविशंका।।

सन्दर्भ

1. एतच्च श्रीशङ्करभगवत्पादानां भाष्यादेवावगम्यते– यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्य-निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभि: कञ्चित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणै: सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि साङ्ख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थ: पर: पाद: प्रवर्तते इति।
2. कल्पतरुग्रन्थाद् उद्धृतम् (ब्र. सू. भामतीकल्पतरु 2.2.6)
3. ब्र. सू. शाङ्करभाष्यम् 2.2.6,
4. खण्डनखण्ड- खाद्याद् उद्धृतम् (खण्डनखण्डखाद्यम्),
5. खण्डनखण्डखाद्याद् उद्धृतम् (खण्डनखण्डखाद्यम्)।

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपगताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

जिसने संसार के कारणभूत रागादि को क्षय कर दिया है उसे ही नमस्कार हो; चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो या जिन हो।

–आचार्य हेमचन्द्रसूरि

समन्वयवादः स्याद्वादः

–डॉ. जवाहरलालः*

भारतीयदार्शनिकजगति जैनदर्शनं सविशेषं राजते। सर्वेषां दर्शनानां विरोधं परिस्कृत्य तेषां एकस्मिन्नेव सूत्रे ग्रथनार्थमेवास्य दर्शनस्य वैशिष्ट्यं भजते। यद्यपि आगमिकदृष्ट्या इदं दर्शनमनादिः परम् आदितीर्थङ्करः भगवान् ऋषभदेवः अस्य दर्शनस्य प्रवर्तकः इति जैनपरम्परानुयायिनः स्वीकुर्वन्ति। तथापि कतिपयानां इतिहासज्ञानां मते अस्य दर्शनास्योद्भवः इतः 2500 वर्ष प्राक् ई. पू. पञ्चमं शताब्द्यामभवत्। भगवान्महावीरः वर्तते अस्य दर्शनस्य आद्युपदेष्टा। अथ इन्द्रभूति–सुधर्माचार्य–भद्रबाहु–आचार्यकुन्दकुन्द–उमास्वामि–सिद्धसेनदिवाकरादयः विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति यत् ततोऽपि 250 वर्षं प्राक् भगवान्पार्श्वनाथः अस्य दर्शनस्य प्रवर्तनमकरोत्। जैनपरम्परायां चतुर्विंशतितीर्थंकराः अभूवन्, तेष्वाद्य तीर्थङ्करः ऋषभदेवः अन्तिमश्च गौतमबुद्ध–समकालीनः भगवान् महावीरः वर्तते। सामान्यतया विष्णुं देवतां मन्यमानाः वैष्णवः, शिवं शैवः, शक्तिं शाक्तमुच्यते। एवमेव जिनं देवतां मन्यमानाः जैनाः उच्यते। तैः स्वीकृतं दर्शनं जैनदर्शनमिति सिद्ध्यति। परन्तु जैनसाहित्ये जैनधर्मदर्शनस्य जैनशब्दस्य एकः विशिष्टः अर्थः वर्तते, अत्र जिन शब्दस्य अर्थः वर्तते जयमानः जितेन्द्रियः इत्यर्थः। जयति काम–क्रोध– राग–द्वेषादि सर्वाणि विकाराणि (दोषान्) इति जिनः। जिनादागतः, जिने भावो वा जैनः। जैनानामभिमतं दर्शनं जैनदर्शनम्। जिनानामुपदिष्टं दर्शनमित्यर्थः। जिनाः स्वभावसिद्धाः जन्मसिद्धाः न भवन्ति, अपितु जन्मान्तरक्रोधादिकषायाणामुपरिविजयं प्राप्तवन्त एव ते वीतरागिणः, सर्वज्ञाः भवन्ति।

---

* सहायकाचार्यः सर्वदर्शनविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नई दिल्ली

अस्य दर्शनस्य प्रमुखतमः सिद्धान्तः वर्तते स्याद्वादः। अनेन सिद्धान्तेन ज्ञानानां सापेक्षता द्योत्यते। जैनदर्शनं जैनेतरदर्शनसिद्धान्त-दृष्ट्याऽवलोक्यते चेत् जैनसिद्धान्ते संदेहाभासो जायते, किन्तु जैनदर्शनदृष्ट्या स्याद्वादसिद्धान्ते लेशमात्रोऽपि सन्देहावकाशो न वर्तते। वस्तुतः अयं स्याद्वादसिद्धान्तः सर्वेष्वेव इतरभारतीयदर्शनेषु समन्वयं स्थापयति। इतराणि यान्यपि भारतीयदर्शनानि तानि सर्वाणि एकैकं पक्षमधिकृत्यैव प्रवृत्तानि। स्याद्वादस्तु सर्वेष्वेव पक्षेषु समन्वयं स्थापयति। अत्र जैनदर्शने शब्दस्य प्रयोगः विशेषार्थे (विशिष्टार्थे) विहितोऽस्ति। अयं तु पारिभाषिकः, शब्दः। अनेन ज्ञानस्य सापेक्षता सूच्यते। अतः स्यात् शब्दस्यार्थः सापेक्षता' इति शब्देन परिभाषयितुमुचितं प्रतिभाति। मनुष्येषु यत् किमपि ज्ञानं भवति न केवलमांशिकमपितु सापेक्षं भवति। सापेक्षत्वाच्चास्य सत्यत्वं सूचनाय जैनाचार्याः प्रत्येकं परामर्शात् पूर्वं स्यात् पदं योजयन्ति। अनेन स्यात् पदेन न केवलं वाक्यानां सत्यत्वं सिद्ध्यति अपितु एकैक (एकान्त) पक्ष प्रतिपादकेषु दर्शनेषु समन्वयोऽपि भवति। स्यात् पदस्य तात्पर्यं प्रकाशयता सर्वदर्शनसंग्रहकारेण माधवाचार्येण लिखितं यत्–

स्याच्छब्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः॥
यथोक्तं– ''वाक्येष्वनेकान्तद्योतीगम्यंप्रतिविशेषणम्'॥
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वातिङन्तप्रतिरूपकः॥

यदि पुनः एकान्तद्योतकोऽयं स्याच्छब्दः स्यात्तदा स्यादस्तीति वाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्। पदात्कथञ्चिदयमर्थो लभ्यते इति नानर्थक्यम्। अत आह–

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः।
सप्तभङ्गी नयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत्॥[1]

अतः संक्षेपेण सप्तभङ्गीनयः कथ्यते–

1. **स्यादस्ति**–कस्यचिदपेक्षया वस्त्वस्ति, यथा स्याद् घटोऽस्ति इत्यत्र स्यात् पदेन घटस्य देश-काल-द्रव्यापेक्षया सत्तां सूचयति। किञ्चित्कालविशिष्टे किञ्चिद्देशविशिष्टे घटः अस्ति इति। सत्कार्यवादिनः सांख्याः पदार्थानां सदैव सत्तामेव स्वीकुर्वन्ति।

2. **स्यान्नास्ति–** कस्यचिदपेक्षया वस्तु नास्ति, यथा अत्र स्याद् घटो नास्ति अस्य तात्पर्यं इदं नास्ति यद् घटः नास्त्येव। अपितु किञ्चित् काल-देश-द्रव्य-भावापेक्षया द्रव्यं नास्ति इत्यर्थः। शून्यवादिनः बौद्धाः तत्त्वानां सदैव असदेव स्वीकुर्वन्ति।

3. **स्यादस्ति च नास्ति च–**कस्यचिदपेक्षया वस्त्वस्ति च नास्ति च यथा अत्र स्याद् घटः अस्ति च नास्ति च। अनेन द्रव्य-काल-भावापेक्षया घटस्यास्तित्वनास्तित्त्वमपि सिद्ध्यति। असत्कार्यवादसमर्थकैः नैयायिकैः उत्पत्तेः प्राक् पदार्थस्याभावः उत्पत्तौ सत्त्यां भावः नाशे च सति पुनः अभावश्च मन्यते।

4. **स्यादवक्तव्यं–** सापेक्षतया वस्त्ववक्तव्यमिस्ति यथा अत्र स्याद् घटः अवक्तव्यं, अर्थाद् घटः द्रव्य क्षेत्रकालभावमर्यादया कथंचिदस्ति, कथंचिद् नास्त्यपि। घटस्य अस्तित्वानास्तित्त्वयोः युगपत् निर्वचनासंभवात् घटः अवक्तव्यम्। अद्वैतवेदान्तिनः मायायाः अनिर्वचनीयत्वं स्वीकुर्वन्ति। मायोत्पन्नस्य वस्तुनः अस्तित्वं प्रतीतिकालेऽपि न भवति सत्त्वावस्थायामपि असदेव अतः परस्पर विरुद्धसत्त्वासत्त्वयोः निर्वचनासंभवः अतः अनिर्वचनीयः। सप्तभङ्गिनयेषु चत्वारः एव मुख्याः, शेषास्त्रयः चतुर्णामेव मिश्रणेन समुत्पद्यन्ते।

5. **स्यादस्ति च अवक्तव्यञ्च** (सापेक्षतया वस्त्ववक्तव्यञ्चास्ति)

6. **स्यान्नास्ति चावक्तव्यञ्चास्ति** (सापेक्षतया वस्तु नास्त्यवक्त-व्यञ्चास्ति)

7. **स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यञ्च** (सापेक्षतया वस्त्वस्ति नास्त्यवक्तव्यञ्चास्ति) इति।

जैनन्यायशास्त्रे परामर्शः एतेषु सप्त वाक्येष्वेव भवति। अयमेव सप्तभंगीन्यायः (नयः) उच्यते। अत्र भंग शब्दः समुच्चयार्थकः वर्तते। अर्थाद् यत्र अस्तित्वनास्तित्वयोः उभयोः युगपत् समुच्चयः भवति स सप्तभंगीनयः। सांख्यादिदर्शनेषु दार्शनिकैः प्रतिपादितानां एकान्तवादानां अत्र समन्वयः दृश्यते। जैनदर्शनानुसारेण कस्यचिद् वस्तुनः एकस्मिन्नैव

काले सामान्य मनुष्येण ज्ञानमसंभवः। अतएव दार्शनिकेषु सन्ति विप्रतिपत्तयः। अन्येषां परम्परायां तत्त्वानामवलोकनं एकैकेनैव पक्षेण क्रियते अत एव तेषां ज्ञानमपि एकांगी भवति जैनमते तत्त्वानामध्ययनं सापेक्षदृष्ट्या भवति अतः तेषां ज्ञानमपि सापेक्षात्मकं भवति, इदं सापेक्षत्मकं ज्ञानमेव नयः। यथा **''एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः''**। 4 अत एव सर्वमपि ज्ञानं ज्ञातुः बोधापेक्षया वस्तुनः सत्तापेक्षया वा प्रामाणिकं भवन्ति। सर्वतो भावेन न किमपि ज्ञानं सत्यं नाप्यसत्यं वा भवति। अत्र एव जैनः भवतु अन्ये वा भवतु स्वाभिमतमेव पूर्ण सत्यं स्वीकृत्य परमतं दूषयति, तर्हि तस्य ज्ञानं स्याद्वादः तावदेव निराकरोति यावत् गजस्य तत्तदंगस्पर्शनेन तमङ्गमेव गजस्येति मन्यमानं प्रज्ञाचक्षुणामभिप्रायं निराकृतो भवति।

जमणेगधम्मणो वत्थुणो, तदंसे च सव्वपडिवत्ती।
अंधत्व गयावयवे तो, मिच्छादिट्ठिणो वीसु॥[2]

एतद् विपरीतं यथा गजस्य समस्तअवयवजमितिसमुदायं गजमिति मन्यमानानां मतं सम्यक् भवति तथैव सकलनयानां, पर्यायानां, धर्माणां वा स्वरूपं ज्ञातृणां मतं सम्यक् भवतीति तेषामभिप्रायः।

जं पुण समतपज्जायवत्थुगमगत्तिसमुदिया तेणं।
सम्मत्त चक्खुमओ सव्वगयावयवगहणे व्व॥[3]

लोकेऽपि कस्यचिदपि कार्यस्योत्पत्तौ पञ्चहेतवः स्वीक्रियन्ते, कालः स्वभावः, नियतिः, दैवः, पुरुषार्थश्च। एतत् पञ्चसम्मिल्य सम्यक् कार्यसम्पादकाः भवन्ति। यथा मुक्ताः पृथक् पृथक् सत्त्वे अतिमल्यवान् सत्त्वेपि व्यवहारायोग्याः भवन्ति तथैव नयाः अपि पृथक् पृथक् सत्त्वे लोककल्याणाय न भवन्ति। एतद् विपरीतं एकस्मिन् सूत्रे अनुस्यूते सति मुक्ताहारः भवति तथैव एकान्तस्वरूपाणां तत्तद् नयानां समवाये सति ते प्रमाणभूताः भवन्ति।

यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां
हार व्यपदेशः एवंपृथगभिसंबन्धिनां नयानां स्यात्
वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति॥[4]

अत एव जैनदार्शनिकाः तत्तत् सर्वान् दार्शनिकविचारान् सापेक्ष्यं स्वीकृत्य तेषु समन्वयं स्थापयन्ति। एतदर्थमेव सापेक्षसूचनाय ''स्यात्'' शब्दस्य परामर्शः सर्वत्रैव कुर्वन्ति। स्यादस्ति घटः इत्युक्ते तात्पर्यमिदमेव यद् एकेन पक्षेण देशतः कालतः, पात्रतः द्रव्यतः, भावतश्च विमृश्यते चेत् तर्हि घटो अस्ति, परं अन्यस्य नास्तित्वादेः पक्षस्यापि संभावना तु अस्त्येव। अयमेव स्याद्वादः।

अत्र जैनदर्शनप्रतिपादितानां जीवादिसप्ततत्त्वानां स्वरूपं यादृशं जटिलं गभीरञ्च वर्तते, तेषां एकान्ते विवेचनमसंभवः। किमर्थं? तर्हि उच्यते–

''तत्त्वं न सद् वक्तुं शक्यते, नाप्यसत्''।।[5]

सत् सत्त्वे इति कस्यचिदपेक्षया असदस्ति, असद् सत्त्वेऽपि कस्यचिदपेक्षया सदस्ति। यथा गीतायामपि उक्तं–

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।[7] गीता 13.12

अपि च–

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव चस्थितम्।।[8]

अर्थाद् अविभक्तेऽपि विभक्तवत् प्रतिभाति इति।

एकान्तप्रतिपादकान्येतरन्याय-वेदान्तादीनि दर्शनानि अनेकान्तमत-माश्रित्यैव स्वमतमेकान्तं प्रतिपादयन्ति। यथा नैयायिकाः आत्मनः स्वरूपं जीवापेक्षया अणुत्वं प्रतिपादयन्ति परमात्मापेक्षया विभुत्वमेव। एवं वेदान्तिनोऽपि ब्रह्मणः कस्यचिदपेक्षया सगुणत्वं कस्यचिदपेक्षया च निर्गुणत्वं प्रतिपादयन्ति। अथ च विशुद्ध चैतन्यं ब्रह्म अद्वितीयमस्ति, तर्हि उच्चावचं प्रपञ्चं कथं प्रतिभासयति। इत्यत्र स्वयं आचार्यशंकरः श्रुत्या, युक्त्या अनुभवाधारेण च बीजभूतपरमात्मशक्तेः सद्भावं स्वीकृतवान्। यया व्यपाश्रया अद्वयब्रह्म अस्य नामरूपात्मकस्य प्रपंचस्य कारणतां निर्वहति। मुण्डकोपनिषद्भाष्ये स्वयं आचार्यः वदति–

अविद्यया संवृत्तं सन्नलक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वद्भिः।।[9]

ब्रह्मसूत्रभाष्ये पुनः आचार्य शंकरः अपर ब्रह्मोपासकानामपेक्षया देशपरिच्छेदयुक्तफलं, परब्रह्मोपासकानामपेक्षया देशपरिच्छेदराहित्यफलं विहितवान्।

नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुतेति युक्तं सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः।।[11]

अग्रे पुनः–पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्ते इति।

अनेकान्तं विना मायायाः अनिर्वचनीयत्वं प्रतिपादनमपि असंभवमेव।

एवमेव बौद्धदार्शनिकाः अपि अनेकान्तमाश्रित्यैव शून्यवादं व्यवस्थापयन्ति। यथोक्तं अद्वयवज्रसंग्रहे–

न सन्न चासत् न सदसन्नचाप्युभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।।[12]

अत्र यद्यपि सर्वत्र दर्शनशास्त्रेषु अस्याः पद्धतेः आश्रयणं तु अस्त्येव, तथापि सांगोपांगसिद्धान्तरूपेण विवेचनं तु जैनदर्शने एव वर्तते, अतः अस्य दर्शनस्य इदं वैशिष्ट्यं।

एकान्तेन जीवादितत्त्वानां सम्यग् विवेचनं अद्यावधिपर्यन्तं न जातं नैव च भविष्यति, तत्त्वानामनन्तधर्मात्मकत्वादिति। अतः एकया दृष्ट्या कस्यचिदपि वस्तुनः सम्यग्ज्ञानं नैव संभवः। अत एव उक्तं तिलोयपण्णत्तौ–

णओ विणादुस्स हिदयभावत्थो।।[13]

कस्याश्चिद् नर्तकेः मृतशरीरवलोकने साधोः भिन्ना दृष्टिः भवति, व्यभिचारिणः भिन्ना, श्वानस्य च भिन्ना। ययाऽपि दृष्ट्या तमवलोकयति तं तथैव दृश्यते यथा तेषां हृदये भावः भवति। अतः यत् किमपि विवक्षितं तत्त्वं विद्यते तत्र व्यक्तेः यादृशी दृष्टिः पथि आयाति तत् तमेव स्वरूपं सत्यं भवति नान्यदिति।

णियवयणिज्जसच्चा, सव्य नया पर वियालणेमोहा।।[14]

अनेन सिद्ध्यति यत् अतीतानागतवर्तमाने द्रष्ट्रादृष्टस्य सत्यस्य

यत् स्वरूपं निर्णेष्यते वा तन्न सर्वथा सत्य नाप्यसत्यम्। समदृष्टियुक्तानां कृते सत्यं भिन्नं अन्येषां च कृते असत्यम्, इदमेव तथ्यम्। अथ च जैनदर्शनस्य स्याद्‌वादसिद्धान्तः प्राणः। जैनपरम्परानुयायिनः भवतु न वा भवतु, स्याद्वादानुयायिनः भवतु न वा भवतु, दर्शनेन निर्णीतं तथ्यं नैव पूर्णं सत्यं भवति, नैव च पूर्णमसत्यम्। कथञ्चित् सत्यं भवति कथञ्चिदसत्यम्। उभयपक्षावलोकनपरायणः कश्चितृतीयः तत्रैव सापेक्षबुद्‌ध्या युगपत् सत्यमसत्यं पश्यति। अन्यः कश्चिच्चतुर्थः पश्यति केवलं न श्रृणोति न विचारयति तत् कृते तदेव सत्यासत्यविकल्पातीतं अनिर्वचनीयम्। अयमेव सप्तभंगी सिद्धान्तः। यथोक्तं-

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥[15]

अत्र स्याच्छाब्दः नास्ति संशयवाचकः, अपितु अयं निपातः, जैनदर्शनस्य पारिभाषिकः शब्दः कथञ्चित्तत्त्वद्योतकः। अर्थात् अनया दृष्ट्या वस्तुनः इदं स्वरूपं, अनया दृष्ट्या इदमिति स्यात् पदं नियोज्य वचनमित्येव स्याद्वादः।

जैनदर्शनानुसारेण त्रिलक्षणसम्पन्नं द्रव्यम् उत्पादं व्ययं ध्रौव्यञ्चेति। यथा सूत्रकारेण उमास्वामिना भणितं–

उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥ सत् द्रव्यलक्षणमिति॥[16]

अर्थात् लक्षणत्रययुक्तत्वं द्रव्यस्य सामान्य लक्षणम्। लक्षणमिदं वस्तुनः अनन्तधर्मावबोधकं भवति। प्रत्येकस्मिन् द्रव्ये उत्पत्तिः विनाशः स्थितिश्च भवति, तत्र गुणे ध्रौव्यं, पर्याये स्थितिः विनाशश्च (परिवर्तनं) भवति। अत एव द्रव्यं गुणपर्यायात्मकमुक्तं तच्च द्रव्यं नित्यमपि भवति अनित्यमपि भवति। गुणरूपेण नित्यं, पर्यायरूपेण च अनित्यम्। यथा मृत्तिकया घट निर्माणं भवति, तत्र मृत्तिकायाः पिण्डपर्याय नाशे सति घटपर्यायोत्पत्तिर्जायते, परन्तु मृत्तिका तु वर्तते एव। अतः मृत्तिका अपेक्षया द्रव्यं सत्। एकस्य नाशाद् अपरस्य पर्यायस्य आविर्भावात्। आकृति-परिवर्त्तितेऽपिद्रव्यं तु अपरिवर्त्तितमेव। अतः उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्यञ्च त्रिलक्षण-

सम्पन्नं द्रव्यं भवतीति अनेकान्तदृशा एव साधयितुं शक्यते।

जैनेतरभारतीयदार्शनिकै एकान्तदृष्ट्या विचार्यते, अतएव तेषां मते अयं समन्वयात्मकवादः स्याद्वादः संशयवाद इति प्रतिभाति। परं नायं संशयवादः अपितु सापेक्षवादः। जैन दार्शनिकैरेतत् न कदापि भाषितं यद् वस्तुषु परस्परविरुद्धधर्म एकयैव दृष्ट्या एकस्मिन्नेवार्थे भवन्तीति। इदं विज्ञेयमस्ति यत् प्रत्येकं वस्तु अनेकधर्मात्मकं भवति तत्र परस्परविरुद्धधर्मा अपि राजन्ते। यतो हि वस्तुनामयं स्वभावः। यथा- द्रव्यदृष्ट्या वस्तुषु एकता नित्यता, पर्यायदृष्ट्या चानेकतानित्यतादीनां सापेक्षतया विधानं क्रियते स्याद्वाद् सिद्धान्ते। स्व द्रव्य-रूप-देश-कालदृष्ट्या वस्तुनः सत्तायाः तथा च परद्रव्यरूपदेशकालदृष्ट्या वस्तुनोऽसत्तायाः सापेक्षतया विधानं क्रियते। अतः स्याद्वादस्य समन्वयात्मकः दृष्टिः, नास्ति विरोधस्यावकाशः।

संदर्भ

1. सर्वदर्शनसंग्रहः, आर्हतप्रकरणम्
2. विशेषावश्यकभाष्यम् 2269
3. विशेषावश्यकभाष्यम् 2270
4. स्याद्वादमञ्जरी 30
5. मुण्डकोपनिषद् भाष्यम् 3-1-17
6. न्यायावतारः 29
7. गीता
8. गीता
9. भाष्यम्
10. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्
11. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्
12. अद्वयवज्रसंग्रहः
13. तिलोयपण्णत्तिः 1.83
14. सन्मतितर्कप्रकरणम् 1.28
15. पंचास्तिकायः 14
16. तत्त्वार्थसूत्रम्

स्याद्वादसन्दर्भे नैयायिकानां दृष्टिः

–डॉ. विष्णुपदमहापात्रः*

इह खलु संसारे ज्ञानस्य कापि सीमा नास्ति। असीमात्मकस्य ज्ञानस्यावधारणाय शास्त्रकाराः साहित्यिकाः दार्शनिकाः सततचिन्तनपरायणाः भवन्ति। दर्शनस्य मुख्यमुद्देश्यं भवति नवीनानां तथ्यानामन्वेषणम्। तादृशं च तथ्यं आत्मा। आत्मतत्त्वसाक्षात्करणाय अनवरतप्रयत्नशीलाः भवन्ति दार्शनिकाः। द्वादशप्रकारकभारतीयदर्शनेषु तत्तद्दार्शनिकाः ततसम्प्रदायाश्च स्व स्व मतं पोषयन्ति। यथा प्रतीत्यसमुत्पादवादे शून्यवादे क्षणिकविज्ञान-वादे च बौद्धाः प्रवर्तन्ते। विवर्त्तवादे अनिर्वचनीयतावादे च अद्वैतिनः, सत्कार्यवादे परिणामवादे सांख्याः, असत्कार्यवादे आरम्भवादे च न्यायवैशेषिकाः प्रवर्तन्ते तथैव अनेकान्तवादे स्याद्वादे वा जैनाः प्रवर्तन्ते। जैनाः स्याद्वादस्य तत्त्वस्थापनाय सप्तभंगीनयं स्थापयन्ति। तत्रेदमवधातव्यं यत् जैनानां नये ज्ञानस्य साधनं प्रमाण-नय-भेदाद् द्विविधम्। तेषां मते साधारणतः प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात् त्रिविधं प्रमाणम्। अनुमानं न्यायदर्शनमिव स्वार्थपरार्थ-भेदेन द्विविधं भवति। तत्रापि परार्थानुमानं न्यायदर्शनमिव प्रतिज्ञादिपञ्चावयव-साध्यं भवति, मन्ये अत्र न्यायदर्शनमतं समर्थयन्ति जैनाः।

तत्र जैनन्यायशास्त्रे परामर्शः सप्तवाक्यात्मको भवति। स च सप्तभंगीन्याय नयो वा। भंगशब्दस्यार्थो भवति समुच्चयः, अतः यत्र अस्तित्वनास्तित्वादीनां समुच्चयो भवति स सप्तभंगीनयः। उत वा सांख्यादिसप्तदार्शनिकप्रतिपादितैकान्तवादं निराकुर्वन् यत्र अनेकान्तवादस्य स्थापनं स सप्तभंगीनय इति केचन प्रतिपादयन्ति। नयशब्दस्य कोऽर्थ इति जिज्ञासायामित्थं वक्तुं शक्यते यद् यदा कश्चन पुरुषः रक्तपुष्पं पश्यति

---

* सहायकाचार्यः न्यायदर्शनविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

तदा तद् रक्तपुष्पं निर्दिष्टदेशकालावच्छेदेन सीमावद्धं भवति। तादृशदेशकालवद्धपुष्पस्य ज्ञानं इन्द्रियादिसन्निकर्षेण भवति। अत: तादृशज्ञानं प्रमाणाधीनं भवति। किन्तु तदेव रक्तपुष्पं विभिन्नेषु कालेषु विभिन्नासु अवस्थासु च दृश्यते। दृश्यमानस्य जगत: किमपि वस्तु देशकालातीतं न भवति। जगति असंख्यानि वस्तुनि सन्ति, तेषां परस्परसम्बन्धोऽपि विद्यते। एतेषां वस्तूनां या सत्ता सा विभिन्नेषु समये विभिन्नाया: अवस्थाया: उपरि समाश्रिता एवञ्च अवस्थाया: वैचित्र्यात् सृष्टेरपि वैचित्र्यं समागच्छति ''अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'' अत: अवस्थाया: अन्तत्वाभावाद् वस्तुनि गुणधर्मयोर्वा सीमावद्धत्वाभावाच्च आपेक्षिकतावादं स्वीकुर्वन्ति जैना:। एतादृशापेक्षि-कतावादत: अनेकान्तवादस्योत्पत्ति:। विभिन्नदेशकालदृष्टिभंगौ एकस्य पुष्पस्य विषये भिन्नं भिन्नं वचनं निर्मातुं शक्यते यत: प्रतिवचनस्य पश्चाद्भागे एका दृष्टिभंगी विद्यते। एतादृशदृष्टिभंगीपदार्थ: नयपदार्थ एव। अवस्थाया: अनन्तवैचित्र्याद् वस्तु अनन्तवैचित्र्यं प्रयच्छति इत्यत नयोऽपि अनन्त:। वस्तुत: तत् सप्तविधम्! दृष्टिभेदात् सृष्टेरपि भेद:। मन्ये अद्वैतसिद्धिकार: पूर्वपक्षरूपेण दृष्टिसृष्टिवादपक्षमुपस्थापितवान्। दृष्टिभेदात् सृष्टिभेदस्य पक्षस्थापनाय जैना: स्याद्वादस्य समर्थनं कुर्वन्ति।

जैनदर्शने नय: सप्तविध: स च (1) स्यादस्ति (2) स्यान्नास्ति (3) स्यादस्ति च नास्ति (4) स्यादवक्तव्य: (5) स्यादस्ति चावक्तव्य: (6) स्यान्नास्ति चावक्तव्य (7) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य:। इति।

सप्तभंगीनयान्तर्गत 'स्यात्' शब्दस्यार्थो भवति सापेक्षता उत वा अनेकान्तता। यदि कस्यापि वस्तुन: अस्तित्वं अस्ति इति उच्यते तदा देशकालभाववर्णादित: तस्य विरोध:। अत: सर्वत्र वस्तुनि विधिनिषेधयो: परामर्श विद्यते। किमपि कालादिसापेक्षं एकस्मिन् वस्तुनि विधिनिषेधेयो: सद्भावाद् अनिश्चयावस्थाम् अनेकान्तवादं सूचयति। निश्चयानेकान्तवादे कस्यापि वस्तुन: सत्त्वासत्त्वयो: निश्चय: नैव भवति।

तत्र सप्तपक्षेषु एकैकपक्षं ये समाश्रयन्ति तेषामयमभिप्राय:-

(1) स्यादस्ति इति प्रथमपक्ष: सांख्यानाम्। यत: सांख्या:पदार्थानां सत्त्वं सदा स्वीकुर्वन्ति।

(2) स्यान्नास्ति इति पक्ष: माध्यमिकबौद्धानाम्, यत: शून्यवादिन: सदा पदार्थानां नास्तित्वं स्वीकुर्वन्ति।

(3) स्यादस्ति च नास्ति च इति तृतीय पक्ष: नैयायिकानाम्, यत: उत्पत्ते: प्राक् पदार्थानामभाव: उत्पत्त्यनन्तरं तस्य भावत्वं नाशान्तरं च तस्य अभावत्वं स्वीकुर्वन्ति। कालभेदात् सत्वासत्त्वे स्वीकुर्वन्ति। जैनानामिव नहि एकप्रकारकम्।

(4) स्यादवक्तव्य इति चतुर्थपक्ष अद्वैतिनाम्। यत: जगदुपादानं या माया तस्या: मायाया: अनिर्वचनीयत्वं स्वीकुर्वन्ति। मायात: उत्पन्नं वस्तु प्रतीतिकाले "नास्तीति" रूपे पश्चाच्च बाधितं भवति। सत्त्वावस्थायां पदार्थ: असद् भवति। न अस्तित्वं न नास्तित्वं अनयो: विरोधिद्वयो: वर्णनमनिर्वाच्यमेव।

(5) स्यादस्ति चावक्तव्य: इति पक्ष वेदान्तिनाम्, यत: मायातत्त्वं स्वीकुर्वन्त: वेदान्तिन: सांख्योक्तपदार्थानां सत्तामभ्युपगत्यपि मायात: संसारस्य अनिर्वचनीयत्वं स्वीकुर्वन्ति।

(6) स्यान्नास्ति चावक्तव्य: इति पक्ष: मायावादैकदेशिनाम्, यत: मायावादैकदेशिन: शून्यवादोक्तपदार्थानां नास्तित्वस्वीकारेऽपि मायाकृतानिर्वाच्यत्वं स्वीकुर्वन्ति।

(7) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य: इति पक्ष: वेदान्तैकदेशिनाम्, यत: वेदान्तैकदेशिन: न्यायप्रतिपादितासत्त्वासत्त्वपदार्थेन सह मायिकानिर्वाच्यत्वं स्वीकुर्वन्ति।[3]

अनन्तवीर्येण इत्थं नयवाद: प्रकटित:–

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते॥

क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः॥

आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भंग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभंगसमुद्भवः।
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भंग उच्यते।।[4]

मन्ये जैनदार्शनिकैः यत्स्याद्वादः निर्मितः तत्र स्याद्वादे नैयायिकानां कथञ्चिद् दृष्टिः विद्यते इति वक्तुं शक्यते। यतः सर्वतादौ संयोग-सम्बन्धेन धूमस्य सद्भावेऽपि तत्रैव समवायसम्बन्धेन तस्य नास्तित्वमपि सिद्धयति। एवञ्च व्याप्तेः स्वरूपनिर्वचनावसरे मणिकारैः पूर्वपक्षरूपेण ''साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभावो'' इत्यादि पञ्चप्रकारकव्याप्तिलक्षणं यदुपपादितं तत्र केवलान्वयिसाध्यकसद्धेतौ इदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यत्र भवति अव्याप्तिः, तदव्याप्तेः परिहारार्थं सौन्दडनैयायिकाभिमतव्यधिकरण-धर्मावच्छिभावमभ्युपगत्य मणिकाराः प्रवदन्ति-समवायितया वाच्यत्वाभावो घटे एव प्रसिद्धः इति। एतेन ज्ञायते यद् घटादौ स्वरूपसम्बन्धेन वाच्यत्वस्य विद्यमानतादशायां समवायसम्बन्धेन वाच्यत्वाभावस्य सद्भावात् स्यादस्तित्वं स्यान्नास्तित्वं च संगच्छते। एवञ्च धूमाधिकरणे पर्वतादौ वह्नेः सत्त्वदशायां अर्थाद् वह्नित्वेन वह्नेः सद्भावेऽपि घटत्वेन वह्न्यभावस्यापि तत्र विद्यमानत्वात् सापेक्षिकत्वेन सत्त्वमसत्त्वं च सिद्धयति। एवञ्च सिषाधयिषा-विरहविशिष्टसिद्धयभावस्य पक्षतात्वस्वीकारपक्षेऽपि सिद्धिसमकाले सिषाधयिषायाः सत्त्वेऽपि अनुमितिर्भवति, तत्र विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावं स्वीकृत्य कारणत्वं कल्प्यते, तत्रापि सिद्धिसमकामाले सिद्धयभावस्य स्वीकाराद् अस्तित्वं नास्तित्वं च सिद्धयति। अनेन ज्ञायते स्थलविशेषे अनेकान्तवादविषये स्याद्वादविषये वा नैयायिकानां दृष्टिरस्त्येव।

सन्दर्भाः–

1. एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः, न्यायावतारः, पृ. 29
2. सर्वदर्शनसंग्रहः, पृष्ठ 146
3. भारतीयदर्शनेर मर्मकथा (बंगला) पं. हरिदास वनज, जैनदर्शनभागः।
4. सर्वदर्शनसंग्रहः, पृष्ठ 149

विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्

–डॉ. अनेकान्तकुमारो जैनः*

प्रत्येकदर्शनं जगतः वास्तविकरूपस्य दर्शनं कर्तुं प्रयतते। इदम् इन्द्रियगोचरं जगत् यस्मिन् रूपे सर्वसाधारणस्य समक्षमस्ति, तस्मिन् एव रूपे तत् दार्शनिकानाम् समक्षं उपस्थितमस्ति। सर्वसाधारणः जनः जगत् तस्मिन्नैव रूपे गृह्णाति, यस्मिन् रूपे तत् उपलभ्यते, किन्तु दार्शनिकः? दार्शनिकाः किं विचारयन्ति?

उक्तवान् कश्चन दार्शनिकः–

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत् तत्त्वेन भवेद्यदि।
जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा॥

वस्तुतः इदमस्ति दार्शनिकानां मूलसमस्या। इति रूपे घोषणां कृत्वा जगतः तात्त्विकस्वरूपं ज्ञातुं प्रयतते, एतत्फलस्वरूपं च ज्ञातस्य तात्त्विकस्वरूपस्य निर्देशेन सः जगतः इन्द्रियोपलब्धस्य रूपस्य व्याख्याम् प्रस्तौति। इयं व्याख्या एव एकस्य दर्शनस्य स्वरूपं गृह्णाति। सुदूरात् अतीतकालात् आरभ्य अधुनावधि जगतः मूलं तात्त्विकं वा स्वरूपं ज्ञातुम् अनवरतरूपेण प्रयत्नः क्रियमाणः वर्तते स्म, इदानीं च निरन्तरं क्रियमाणः वर्तते। किन्तु तस्य सम्बन्धे अद्यावधि मतैक्यं स्थापितं भवितुं न अशक्नोत्, न च कापि एतादृशी आशा एवास्ति। असंख्यरूपेषु जगतः वर्तमानस्वरूपस्य व्याख्याः प्रस्तुताः अभवन्, यासु पूर्णरूपे कतिपयाः एव अद्य विभिन्नानां दर्शनानां रूपे उपलब्धाः सन्ति। कतिपयानां केचनांशाः एव यत्र-तत्र निर्दिष्टाः सन्ति, अवशिष्टानां च असंख्यानां दर्शनानां नामन्यपि अतीतस्य

* स. आचार्यः, जैनदर्शनविभागेः, श्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नवदेहली

गर्भे समाहितानि। जगतः स्वरूपस्य सम्बन्धे अद्य उपलब्धासु उक्तासु अनेकासु व्याख्यासु काश्चन ताः अपि सन्ति या विभिन्नानां भारतीयदर्शनानां रूपे वर्तन्ते।

अनेकान्तदर्शनस्यावश्यकता

भारतवर्षे अनादिकालादेव 'अहम्, विश्वञ्चेत्युभयोर्विषये' व्यष्ट्या-समष्ट्या च चिन्तनं चिरात्प्रवर्तितं सदद्यापि परिशील्यतेव। ऋषिभिरैहिकचिन्तां परित्यज्यात्मतत्त्वान्वेषण एव स्वशक्तेः प्रयोगो विहितः। अस्यैवान्वेषणस्य धुर्यामिदं जगच्चक्रं परिभ्रमत तिष्ठति।

सामान्यतः अन्यदार्शनिकैः प्रतिपादितानि विभिन्नानि मतानि अस्मभ्यं न रोचंते। किमप्येक मतं स्वीकृत्य वयं सत्यान्वेषणं कुर्मः। किन्तु सामाजिकदृष्ट्या विभिन्न राष्ट्र-प्रदेशभाषा-धर्मैः सह वयं समन्वयं स्वीकुर्मः यतोहि समन्वयदृष्टिं विना शान्तिपूर्णसहास्तित्वं भवितुं न शक्नोति। प्राणिनः एकाकीस्थातुं न शक्नुवन्ति, सामाजिकत्वात्। अतएव स्व-पार्श्ववर्तिभिः सह सम्बन्धं संस्थाप्य सर्वतो वातावरणं शान्तमपेक्षते। अथ च सोऽभिलषति, यत्कथं वयं रागद्वेषद्वन्द्वविरहिता भूत्वा निराकुलाः स्याम? समाजे जगति च कथं सुखशान्तेः साम्राज्यं स्यात्? आभ्य एव चिन्ताभ्यः समाजस्यानेके प्रयोगाः निष्पन्नाः अभवन् भवन्ति, भविष्यति च।

भारतीयदर्शनेषु प्राचीनतमजैनदर्शनस्य 'अनेकान्तसिद्धान्तं दर्शने समाजे च समन्वय-सहास्तित्वाय एक आधारभूतसिद्धान्तरूपेण स्थापितमस्ति। अनेकान्तवादः जैनदर्शनस्य वैशिष्ट्यमस्ति। अनेकान्तदर्शनम् अर्थात् जैनदर्शनमित्येवमिदं जैनदर्शनस्य पर्यायमेव भूतम्। जैनदर्शनानुसारेण प्रत्येकवस्तुस्वरूपमनेकान्तात्मकं विद्यते।

वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वात् यो धर्मो येनानुभूतः सापेक्षो निरपेक्षो वा स्वस्य भावनाविवेकादिभित्तौ तमेव प्रतिपादितवान् वस्तुत्वेन। तत्तु स्वीकृतं पृथग्भूतदर्शनत्वेन तदानीन्तनैर्जनैः। एवंविधैः विभिन्नैः दृष्टिकोणैः वस्तुनः प्रतिपादने विभिन्नानि दर्शनानि समुत्पन्नानि। प्रतिफलत्वेन यद्दर्शनस्योद्भूतिः धर्मजिज्ञासातो वस्तुस्वरूपावलोकनप्रयत्नेन वा भवति।

उक्तं च अमृतचन्द्राचार्यैः

'परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपायः 2)

वस्तुतत्त्वप्रतिपादने जैनदृष्टिः कीदृशी अस्ति? अनेकान्त-स्याद्वादसिद्धान्तं ज्ञात्वा वयं ज्ञातुं शक्नुमः।

अनेकान्तस्वरूपम्

आचार्यकुन्दकुन्दविरचितसमयसारस्यात्मख्यातिटीकायाः परिशिष्टे स्याद्वादाधिकारे (1100 AD)आचार्येणामृतचन्द्रेणातिसरलसुष्ठुशब्देषु अनेकान्तस्य लक्षणं निम्नरूपेण विशदीकृतम्।[1]

'तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्कवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्ति द्वयप्रकाशनमनेकान्तः।'

तैः उक्तञ्च स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकान्तात्मकमित्यनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकान्तस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्मानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः, त्वयमेवानेकान्तत्वात्। अनन्तरं प्रतिपादयन्ति- तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्। बाहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानन्त-चिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्ता-नन्तचिदंशरूपपर्ययैरनेकत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभवावत्त्वेनाऽसत्त्वाद्, अनादिनिधना-विभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंश-परिणतत्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्त्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव।

व्युत्पत्तिः- अनेकान्तशब्दः अनेकः + अन्तः इतिशब्दद्वयसंयोगेन व्युत्पन्नः वर्तते। अनेकस्यार्थः एकस्मादधिकम्। एकस्मादधिकं द्वावपि

अनन्तोऽपि। द्वयोरनन्तानां मध्येऽनेकार्थं सम्भाव्यते। अन्तशब्दस्यार्थः धर्मः गुणो वा। यत्रानेकस्यार्थः अनंतो भविष्यति तत्रान्तस्यार्थः गुणो ज्ञेयः। अनया व्याख्यया अनन्तगुणात्मकं वस्त्वेवानेकान्त इति। यत्रानेकस्यार्थः द्वौ-इति तत्रान्तस्यार्थो धर्म इति स्यात्। तदित्थम् ज्ञेयम्-परस्परं विरुद्धप्रतीतिभूतस्य धर्मद्वयस्यैकास्मिन्नेव वस्तुनि वर्तमानमनेकान्तमस्ति।[2]

वस्तुस्वभावः

सर्वेषां द्रव्याणां सत्सामान्येनैकत्वम्, स्वस्वरूपचतुष्टयत्वेन चानेकत्वम्। इत्थमेवेदं समग्रमपि विश्वमनेकात्मकमपि व्यवहारार्थं संग्रहेणैकमेव कथ्यते। एकं हि द्रव्यं स्वगुणपर्यायैःअनेकात्मकम्, एक एवात्मा हर्षविषादसुख-दुःख-ज्ञानादिभिरनेकरूपात्मकोऽनुभूयते। द्रव्यमन्वयरूपम्, पर्यायाश्च व्यतिरेकरूपाः। द्रव्यमेकं, पर्यायाश्चानेकाः। द्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वम् पर्यायाणाञ्च प्रतिक्षणं विनाशशीलत्वम्। इत्थं द्रव्यस्यैकत्वेऽपि यदानेकात्मकता प्रतीतिसिद्धा वर्तते।

एकस्मिन् वस्तुनि एकस्मिन्नैव काले बहवः धर्माः कथं सम्भवन्ति?

द्रव्यस्य (वस्तुनः) अनन्तधर्मात्मकत्वविषये बहुधा जनाः विवदन्ते, यत् घटे यदा अस्तित्वं, तदा कथं तस्य नास्तित्वम्? घटस्य यदैकत्वम्, तदा कथमनेकत्वं तस्य? किन्त्वत्र विचारे कृते सति ज्ञायते-यद्घटो घट एव न वस्त्रम्, नापि किञ्चिदन्यत्। अस्यायमभिप्रायो वर्तते, यत् घटो तद्भिन्नानन्तपदार्थात्मको यदि नास्ति, तद् घटः स्वरूपेणास्ति, पररूपानन्तपदार्थात्मकाभावात् पररूपात्मको नास्ति, यदि नेत्थं स्यात्, तदा घटः पट एव स्यादन्यत्कश्चिद्वा स्यात्। अत्रेदं पररूपव्यावर्तकं नास्तित्त्वं मेव घटस्यास्तित्वं स्थापयति। अस्मिन्नेव घटे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-लघुत्व-दीर्घत्व-सूक्ष्मत्वादयो गुणधर्माः सन्ति। एषामपेक्षया तु घटोऽनेकधर्मात्मको वर्तते, यथा खलु घटेऽनेके धर्माः गुणाः वा विद्यन्ते। तथैव प्रत्येकस्मिन् द्रव्ये द्रव्यत्वादेकत्वेऽपि परस्परं विरुद्धा अनेकधर्मगुणाः स्पष्टमेव प्रतिभासन्ते। अत एवात्र संशयविरोध युक्तेभ्यो धर्मकीर्तिनेदं प्रतिपादितम् –**'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्'**। अतः द्रव्यस्य स्वद्रव्यकालभावापेक्षया भावत्वम् परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चाभावत्वमपि वर्तते।

धर्मो गुणश्च द्वावपि वस्तुनः नित्यावयवौ स्तः। परन्तु द्वयोरन्तरोऽपि विद्यते। धर्माः सदा सापेक्षाः भवन्ति। परस्परं विरूद्धप्रतीयमानाः युगलरूप एवोपलभ्यन्ते यथा नित्यानित्यता-एकानेकादिः। गुणाः निरपेक्षाः विशेषाभासरहिताः भवंन्ति यथाऽत्मनः ज्ञानदर्शनसुखादयः। अनेकान्तप्रकरणे-मुख्यरूपेण परस्परं विरुद्धप्रतीयमानानां धर्माणामेव चर्चा विधीयते। वस्तुनि सम्भाव्यमानाः परस्परविरुद्धधर्मा एवोपलभ्यन्ते नत्वसम्भाव्याः। यथाऽत्मनि नित्यानित्यरूपसम्भाव्यमानाः विरुद्धधर्मास्तु विद्यमानाः सन्ति परन्तु चेतनाचेतनरूपविरुद्धधर्माणामसत्ता विद्यते। वस्तुतः चेतनाचेतने परस्परं विरुद्धधर्मो स्तः परन्तु नित्यत्वमनित्यत्वञ्च परस्परं विरुद्धौ नापितु परस्परं विरोधिनौ प्रतीयेते। तेषां सत्ता एकस्मिन् द्रव्ये सदैव प्राप्यते।

परस्परं विरोधिप्रतीयमानानां धर्माणां सत्तास्वीकारे वस्त्वभावः सिद्धो भविष्यति। वयं यदि वस्तुनः एकान्तम् अस्तिरूपमेव स्वीकुर्मस्तदा नास्तित्वस्याभावे सर्वाणि द्रव्याणि परस्परं मिलिष्यन्ति अर्थात् वस्तुव्यवस्थायाः विनाशो भविष्यति। एवमेकान्तनित्यवस्तुनिअर्थक्रिया तथा कार्याभावे तस्याभावः सिद्धो भविष्यति। एकान्तानित्यवस्तुनः क्षणांतरं पूर्णतः नाशो भविष्यति। अतोऽनेकान्तात् विपरीतमेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपस्य कल्पनायां वस्तुनः एव नाशः सिद्ध्यति।

अनेकान्तात्मकवस्तुस्वभावः प्रमाणसिद्धः। जगतः प्रत्येकं वस्तु अस्माकं कृते प्रतिसमयं परिणमत् नित्यप्रतीतं भवति। अतः अखिलविश्वे समस्तद्रव्याणि अनेकान्तस्वरूपाणि सन्ति।[3]

अनेकान्तस्य भेदाः

अनेकान्तोऽपि सम्यग्मिथ्यापेऽक्षया द्विविधोस्ति। सम्यगनेकान्तः मिथ्याऽनेकान्तश्च। सुप्रसिद्धजैननैयायिकाचार्याः अकलंकदेवाचार्याः (700 A.D.) तत्त्वार्थराजवार्तिकग्रन्थे इदं विषयमवलम्ब्य विशिष्टप्रतिपादनं कृतवन्तः। तेषामनुसारेण एकान्तो द्विविधः-सम्यगेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितानेर्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः।

तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः। तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्। यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्, एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। यदि चैकान्त एव स्यात्; तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपस्यात्क।[4]

'अपि' तथा 'एव' प्रयोगाः

अनेकान्तस्याद्वादपद्धतौ 'अपि तथा एव' शब्दयोः समानमहत्त्वं विद्यते। 'अपि' शब्दः दृढ़तायाः सूचकः न तु समन्वयस्य। अस्य प्रयोगस्य कः विधिः? यथा यत्रापेक्षां नोक्त्वा केवलं ''काचिदपेक्षा'' कथ्यते तत्र 'अपि' शब्दस्य प्रयोगः आवश्यकः। यत्रापेक्षा स्पष्टा भवति तत्र 'एव' इति प्रयोगोऽनिवार्यो भवति। यथा प्रत्येकं वस्तु कथंचित् नित्यमपि कथंचिदनित्यमपि। यदि इदमेव वयमपेक्षाशब्दं संयोज्य कथयिष्यामः तदेत्थम् कथनीयम्–'प्रत्येकवस्तुद्रव्यापेक्षया नित्यमेवास्ति तथा पर्यायापेक्षयाऽनित्यमेव। अपि शब्दः द्योतते यत् वयम् यत्किञ्चित् कथयामः न तावन्मात्र वस्तु अन्यदपि।

'एव' शब्दः द्योतते यदन्यकोणेरवलोकने वस्तु अन्यत् वहु अस्ति परन्तु येन कोणेन इदमुच्यते इदित्यमेव, नास्ति तत्र शंकावकाशः। अतः 'अपि' शब्द 'एव' शब्दश्च परस्परं पूरको स्तः, न तु विरोधिनौ। एवं शब्दः स्वविषये समस्तशंकां निवार्य दृढ़तां वितरति तथा अपि शब्दः अपरपक्षविषये मौनो भूत्वापि तेषां निश्चितसत्तां सूचयति, न तु तेषां सम्भावनाम्।

'एव' शब्दः सम्यगेकान्तस्य सूचकोऽस्ति तथा 'अपि' शब्दः सम्यगनेकान्तस्येति। अनेकान्तवादिनः जैनदर्शनमनेकान्तोऽप्यनेकान्तं स्वीकुर्वन्ति। समन्तभद्राचार्याः (400 A.D.) जैनन्यायस्य प्रविष्ठापकाचार्याः आसन्। तैः स्वयम्भूस्तोत्रे उक्तं[5]–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

प्रमाणनयौ साधनौ यस्येवं भूतोऽनेकान्तोऽप्यनेकान्तस्वरूपोऽस्ति यतः सर्वांश ग्राहिप्रमाणापेक्षया वस्तु अनेकान्तस्वरूपं तथा अंशग्राहिनयापेक्षया वस्तु-एकान्त रूपं सिद्धमिति।

चतुर्विधभेदाः

सुप्रसिद्धजैनाचार्याः हेमचन्द्राः (1100 A.D.) अन्ययोगव्यवच्छेदि-काद्वात्रिंशिकायां अनेकान्तसिद्धान्तस्य चातुर्विध्याभिधानद्वारेण वर्णयन्नाह[6]–

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं
वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।
विपश्चितां नाथ निपीततत्त्व-
सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम्॥ कारिका–25

हेमचन्द्राचार्यस्य अस्य ग्रन्थस्य सुप्रसिद्धा टीका 'स्याद्वादमञ्जरी' मल्लिषेणसूरिः (1300 A.D.) विरचितम्। टीकायां अस्याः कारिकायाः विस्तृतविवेचनमपि अस्ति। तस्मिन् चतुर्विधभेदानां वर्णनं इत्थं प्रकारेणास्ति–'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टस्वपि पदेषु योज्यम्। तदेव अधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात् कथञ्चिद् नाशि विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः। स्यान्नित्यम् अविनाशिधर्मीत्यर्थः। एतावता नित्यानित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात् सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्। स्याद् विरूपं विविधरूपम् विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमनित्यर्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः। तथा स्याद् वाच्यं वक्तव्यम्। स्याद् न वाच्यमवक्तव्यभित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसम्यता-परिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः। एतेनाभिलाप्यानभिलाप्य-स्वरूपस्तृतीयो भेदः। तथा स्यात्सद् विद्यमानमस्ति रूपमित्यर्थः। स्याद् असत् तद्विलक्षणमिति। अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा।[7]

किं अनेकान्तः छलमात्रमस्ति?

शंकाकारेण शंका क्रियते–'तदेवास्ति तदेव नास्ति तदेव नित्यं

तदेवानित्यम्' इति चानेकान्तप्ररूपणं छलमात्रमिति'। अकलंकदेवाचार्याः राजवार्तिके समाधानं दत्तवन्तः–'तन्न; कुतः? छललक्षणाभावात् छलस्य हि लक्षणमुक्तम्[8]–'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्' इति। यथा 'नवकम्बलोऽयम्' इत्यविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनम् 'नवास्य कम्बला न चत्वारः इति, नवो वास्य कम्बलो न पुराणः' इति नवकम्बलः। न तथा अनेकान्तवादः। यत् 'उभयनयगुणप्रधानीभावापादितार्पितानर्पितव्यवहार–सिद्धिविशेषबललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थः अनेकान्तवादः।[9]

किं संशयहेतुरनेकान्तवादः?

पुनश्च शंका भवति– संशयहेतुरनेकान्तवादः। कथम्? एकत्राधारे विरोधिनोऽनेकस्यासंभवात्। आगमश्चैवं प्रवृत्तः–'एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्' इति। किमागमप्रामाण्यादस्ति वा नास्ति वा नित्यं वा अनित्यं वेति?

राजवर्तिककाराः समाधानं दत्तवन्तः–'तच्च न; कस्मात्? विशेषलक्षणोपलब्धेः। इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः। तद्यथा स्थाणुपुरुषोचिते देशे नातिप्रकाशान्धकारकलुषायां वेलायामूर्ध्वत्वमात्रं सारूप्यं पश्यतो वक्रकोटरवयो निलयनादीन् स्थाणुगतान् विशेषान् वस्त्रसंयमनशिरः कण्डूयन–शिखा–बन्धनादीन् पुरुषगतांश्चाऽनुपलभमानस्य तेषां च स्मरतः–संशयः–उत्पद्यते, न च तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुपलब्धिः, यतः स्वरूपाद्यादेशवशीकृता विशेषा उक्ता व्यक्ताः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। ततो 'विशेषोपलब्धेर्न संशयहेतुः' इति यदगदिष्म तत्सम्यग्निरजैष्म।[10]

अनेकान्त–स्याद्वादयोः सम्बन्धः

वस्तुनोऽनेकान्तस्वरूपप्रतिबोधिका सापेक्षकथनपद्धतिः स्याद्वादः उच्यते। अनेकान्तो वस्तुस्वभावस्तथा स्याद्वस्तुतत्प्रदिपादिकायाः वाचो धर्मोऽस्ति। अनेकान्ते स्याद्वादे च द्योत्यद्योतकभावसम्बन्धो विद्यते।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशे स्याद्वादस्यार्थः एवमुक्तः[11]–'अनेकान्तमयवस्तु कथनपद्धतिः स्याद्वादोऽस्ति। केनचिदेकेन शब्देन वाक्येन वा समस्त वस्तूनां युगपत् कथनमशक्यत्वात् प्रयोजनवशात् कदाचित् एकं धर्मं मुख्यं कृत्वा कथनं क्रियते कदाचिदन्यवेति। मुख्यं धर्मं श्रृण्वन् श्रोता गौणरूपेणान्यं

धर्ममपि स्वीकारं करोति तस्य निषेधो न भूयादनेन प्रयोजननेन अनेकान्तवादी स्वप्रत्येकवाक्येन सह 'स्यात्-कथञ्चित्' इति शब्दप्रयोगं करोति अतः स्यात् पदमविवक्षितधर्मान् गौणम् निदधाति न तु तस्याभावरूपम्।

स्याद्वादस्य महत्त्वम्–

स्याद्वादो जैनदर्शनस्य प्राणमस्ति। दर्शनानाञ्च संयोजकमेकं सूत्रमत एव जैनदर्शनीयचिन्तनधारायामस्य विशिष्टं स्थानं विद्यते। अस्य बीजानि सहस्राब्देभ्यः प्रागेव जैनागमेषूत्पाद-व्ययध्रौव्यरूपेणास्तिनास्त्यवक्तव्यरूपेण। द्रव्यगुणपर्यायरूपेण, सप्तनयादिरूपेण च प्रकीर्णानि सन्ति। समन्तभद्र-सिद्धसेनादि (2-4 A.D.) जैनदार्शनिकैः सप्तभङ्गादिरूपेण तार्किकपद्धत्या तस्मै व्यवस्थितमेकं स्वरूपं प्रदत्तम्। ततश्चानेकैराचार्यैरेनमुद्दिश्य सुबहुवाङ्मयस्य रचना कृता, याद्यापि स्याद्वादस्य गौरवं प्रकटयति।

स्याद्वादस्यार्थः–

'परस्परं विरुद्धधर्माणां विवक्षावशान्मुख्यगौणत्वेन समन्वयः स्याद्वादः' अयमेव स्याद्वादस्यार्थः।[12] यथैकस्य न्यायाधीशस्य सूक्ष्मेक्षया निष्पक्षनिर्णयरूपं महत्त्वपूर्णं कार्यं, तथैव विभिन्नानां विचाराणां समन्वयार्थं तदेव कार्यं स्याद्वादस्य विद्यते।

स्याद्वादस्य व्युत्पत्तिः

स्याद्वादपदे 'स्यात्' 'वाद' पदयोस्संयोगः। तत्र स्याच्छब्दस्यार्थः– 'अपेक्षा', 'दृष्टिः' 'कथञ्चित्' वा, 'वाद'शब्दस्यार्थः–'सिद्धान्तः', 'मन्तव्यो' वाऽस्ति। द्वयोरपि शब्दयोः समुदितोऽर्थः 'सापेक्षसिद्धान्तः', सः सिद्धान्तः यत्रापेक्षावश्यकी भवति। 'अनेकान्तवादः', 'अपेक्षावादः', 'कथंञ्चिद्वादः', 'स्याद्वादश्चे' त्यादयोऽस्य नामान्तराणि अत्रानेकान्तवादे स्याद्वादे चायमेव सूक्ष्मो भेदो यदनेकान्तो वाच्योऽनेकधर्मात्मकोऽर्थः, स्याद्वादस्तु वाचकः तदभिव्यञ्जिकभाषापद्धतिः।

स्याद्वादस्य लक्षणम्

स्याद्वादस्य लक्षणं जैनाचार्यैः इत्थं कृतं विद्यते स्वापरेषु विचारेषु, मतेषु, वचनेषु, कार्येषु च तन्मूलकापेक्षानामवधानं 'स्याद्वादः, एतामेव परिभाषां स्पष्टयन्नमृतचन्द्रचार्यैरभिहितम्[13]–

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्ते जयति जैनी नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी॥

आचार्यविद्यानन्दविरचिताष्टसहस्त्र्यामीदृशी परिभाषा विद्यते[14]– 'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मकवस्तुप्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मको स्याद्वादः' इति। अस्य स्याद्वादस्यानेकान्तवादस्य वाभिव्यञ्जनाय जैनाचार्यैरेका पद्धतिर्निर्धारिता विद्यते, सा पद्धतिरेव 'सप्तभङ्गी' ति पदेन व्यवह्रियते।

सप्तभङ्गी

प्रश्नवशादेकत्रवस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी।[15] अमृतचन्दाचार्यैः स्याद्वादाधिकारे प्रोक्तञ्च अथ द्रव्यस्यादेशवशेनोक्तां सप्तभङ्गीभवतारयामः (1) स्यादस्ति द्रव्यं (2) स्यान्नास्ति द्रव्यं (3) स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं (4) स्यादवक्तव्यं द्रव्यं (5) स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (6) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (7) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं इति। अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदर्थः स्याच्छब्दो निपातः। तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम्। स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं द्रव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैः चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यम् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकाल-भावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति।

यद्यपि अनेकान्तस्याद्वादसिद्धान्मुद्दिश्य शङ्कराचार्यमहोदयैर्यदालोचितं, तद्विषये भूतपूर्वप्रयागविश्वविद्यालयस्योपकुलपतिभिः डॉ. गङ्गानाथझा

महोदयैर्लिखितम्– 'यस्मात्कालान्मयाशङ्कराचार्यैविधत्तं जैनसिद्धान्तस्य खण्डनमधीतं, तस्मात्कालात् ममायं विश्वासः समुत्पन्नः, यदत्र बहु (ज्ञानं) वर्तते, यद् वेदान्तविज्ञैराचार्यैर्न सम्यग्ज्ञातम्। यच्चाद्यावधिपर्यन्तं मया जैनदर्शनज्ञानमर्जितं, तेनाहं दृढ़ेन विश्वासेन कथितुं शक्नोमि, यत् शङ्कराचार्यमहोदयैर्यद्यस्य मौलिकग्रन्थानामवलोकनाय कष्टः कृतःस्यात्तर्हि तेभ्योऽप्यत्र विरोधाय नावकाशः स्यात्।[14]

अनेकान्तस्य, स्याद्वादस्यः, सप्तभङ्गी च सिद्धांतः वस्तुस्वरूपस्य तथ्यरूपेण दिग्दर्शकः आत्मशक्त्या सह विश्वशान्तेरपि प्रतिष्ठापकः विद्यते। अस्मिन् सम्बन्धे सुप्रसिद्धो विद्वान् राष्ट्रकविः रामधारीसिंह दिनकरः कथ्यते :–

'नास्त्यत्र कश्चित् संदेहः यत् अनेकान्तस्यानुसंधानं भारतस्य अहिंसा साधनस्य चरमोत्कर्षम् विद्यते। तथा समस्तसंसारः यथाशीघ्रम् स्वीकरिष्यति चेत् विश्वे शान्तिरपि तथा शीघ्रम् स्थापिता भविष्यति'।[15] इत्यलम्।

सन्दर्भाः

1. समयसारात्मख्यातिटीका, अमृतचन्द्राचार्यविरचिता, परिशिष्टम्, प्रकाशकः- श्रीकुन्कुन्दतीर्थसुरक्षाट्रस्टः, जयपुरम्, संस्करणम्- दशम्।-1995, पृ. 648
2. अनेकान्त स्याद्वादश्च-डॉ. हुकमचन्दभारिल्लः, प्रका. टोडरमलस्मारकः, जयपुरम्, संस्करण 2004, पृ. 5-6
3. तदेव, पृ. 6-12
4. भट्टाकलंकदेवविरचिततत्त्वार्थराजवार्तिकः, प्रथमो खण्डः, सम्पा. डॉ. महेन्द्रकुमारन्यायाचार्यः, प्रथमोध्यायः, सूत्रं-6, वार्तिकं-7, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठम् नवदेहली, संस्करण 2004, पृ. 35
5. समन्तभद्रग्रन्थावलिः, स्वयम्भूस्तोत्रम्, प्रका. वीरसेवामन्दिर, देहली, श्लोकः-103
6. स्याद्वादमञ्जरी-मल्लिषेणसूरिविरचिता, सम्पादकः-डॉ. जगदीशचन्द्र प्रका. -श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलम्, श्रीमद्राजचन्द्राश्रमम्, आगासः (गुजरातः) संस्क. 1992, कारिका-25, पृष्ठ-231
7. तदेव, टीका, पृष्ठ-231-232
8. न्यायसूत्रम्-1/2/10
9. राजवार्तिकम्, प्रथमोऽध्यायः, षष्ठसूत्रम्, वार्तिकाष्टमम्, पृ. 36
10. तदेव, नवमवार्तिकम्, पृ. 36

11. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशः, चतुर्थोभागः, प्रका. भारतीयज्ञानपीठम्, देहली
12. जैनदर्शन् आत्मद्रव्यविवेचनम्–डॉ. मुक्ताप्रसादपटेरिया, प्रका. प्राच्य विद्याशोधाकादमी, नई दिल्ली, सं. 1973, पृ. 90
13. समन्तभद्रग्रन्थावली, आप्तमीमांसा, कारिका-104
14. जैनदर्शने आत्मद्रव्यविवेचनम्–डॉ. मुक्ताप्रसादपटैरिया, पृ. 93
15. संस्कृति के चार अध्याय–रामधारीसिंहदिनकर, पृ. 137

सहायकग्रन्थाः

1. 'जैनदर्शन'–डॉ. महेन्द्रकुमारन्यायाचार्यः, प्रका. श्रीगणेशवर्णी दि. जैनशोधसंस्थानम्, वाराणसी
2. 'जैनधर्म : एकझलक'–डॉ. अनेकान्तकुमारजैनः, प्रका. शान्तिसागर स्मृतिग्रन्थमाला, (बुढ़ाना), मेरठम् (उ.प्र.)
3. 'जैनधर्म'–पं. कैलाशचन्द्रशास्त्रीः, प्रका. प्राच्यश्रमणभारती, मेरठम्
4. 'जैनदर्शन और अनेकान्त'–आचार्यमहाप्रज्ञः, प्रका. आदर्शसाहित्यसंस्थानम्, संस्क. 1994
5. 'अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श'–डॉ. रमेशचन्द्रजैनः, प्रका. आचार्य ज्ञानसागरवागर्थविमर्शकेन्द्रम्, व्यावरः (राजस्थानम्), 1996
6. 'जैनदर्शन में अनेकान्तवाद एक परिशीलन'–डॉ. अशोककुमारजैनः, प्रका. भगवानऋषभदेवग्रंथमाला, सांगानेरः, जयपुरम् (राज.), 2005

आप्तमीमांसायां स्याद्वादः

–प्रतापः*

आप्तमीमांसा इति नामधेयम् एकं ग्रन्थरत्नं जैनदर्शनस्य साहित्यम् अलङ्करोति। एतस्य ग्रन्थस्य अपरनाम देवागमस्तोत्रमपि वर्तते यतः एतस्य ग्रन्थस्य आरम्भ एव देवागमपदेन भवति। आप्तमीमांसा अर्थात् आप्तस्य मीमांसा सर्वज्ञस्य मीमांसा चेति। आप्तमीमांसाग्रन्थरत्नस्य ग्रन्थकर्तारः न्यायशास्त्रविशारदाः प्रकाण्डपण्डिताः समन्तभद्राचार्याः विलसन्ति। एतयोः उभयोः ग्रन्थग्रन्थकारयोः समयः द्वितीयातृतीयाशती वर्तते।

विक्रमस्य द्वितीयातृतीयाशताब्द्यां भारतवर्षस्य इतिहासे दार्शनिकक्रान्त्याः समयो आसीत्। एतस्मिन् समये विभिन्नदर्शनेषु अनेके क्रान्तिकारिणः विद्वांसः अभवन्। श्रमणपरम्परायां वैदिकपम्परायां च अश्वघोषः मातृचेटः नागार्जुनः कणादः गौतमः जैमिनिः एतादृशानां प्रतिद्वन्द्विनां विदुषां प्रादुर्भावः अभवत्। एते सर्वेऽपि प्रायः स्वमण्डने परखण्डने संलग्नाः जाताः यथा तत्र शास्त्रार्थानाम् आप्लावः आगतः। सद्वादः असद्वादः शाश्वतवाद उच्छेदवादः द्वैतवाद अद्वैतवादः वक्तव्यवाद अवक्तव्यवादः चेति। प्रायः एतानि चत्वरि विरोधीयुगलानि स्वीकृत्य एव तत्त्वचर्चा भवति स्म।

एतेषु चतुर्षु युगलेषु चतस्रः कोट्यः एवं प्रकारेण प्रयुज्यन्ते–

1. सदसद्वादः
    1. तत्त्वं सत् अस्ति।
    2. तत्त्वम् असत् अस्ति।
    3. तत्त्वम् उभयम् अस्ति।
    4. तत्त्वम् अनुभयम् अस्ति।

---

* जैनदर्शनाचार्यः, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

2. शाश्वत–अशाश्वतवादः
    1. तत्त्वं शाश्वतमस्ति।
    2. तत्त्वम् अशाश्वतमस्ति।
    3. तत्त्वम् उभयमस्ति।
    4. तत्त्वम अनुभयमस्ति।
3. द्वैत–अद्वैतवादः
    1. तत्त्व द्वैतमस्ति।
    2. तत्त्वम् अद्वैतमस्ति।
    3. तत्त्वम् उभयमस्ति।
    4. तत्त्वम् अनुभयमस्ति।
4. वक्तव्यावक्तव्यवादः
    1. तत्त्वं वक्तव्यम् अस्ति।
    2. तत्त्वम् अवक्तव्यमस्ति।
    3. तत्त्वम् उभयमस्ति।
    4. तत्त्वम् अनुभयमस्ति।

समन्तभद्राचार्यैः प्रतिपादितं यत् तत्त्वम् उक्तासु चतसृषु कोटिसु एव समाप्तं न भवति। अपितु सप्तकोटिसु पूर्णं भवति। ते स्पष्टं कुर्वन्तिः यत् तत्त्वं तु अनेकान्तरूपं वतते, एकान्तरूपं नैव। वस्तुगतसप्तधर्माणां समुच्चयो अस्ति। एतादृशाः अनन्ताः सप्तधर्मा सागरे लहरी इव च लहरन्ति।

एकस्मिन् तत्त्वे एक धर्मः यदा उच्यते तदा अन्येषां धर्माणां तत्र विरोधो न भवति अपितु तेषां गौणता भवति। विवक्षया उत वा कथनापेक्षया एव एक धर्म मुख्यो एकश्च गौणो भवति। एतस्य सम्यक्ज्ञानार्थं प्रत्येकभङ्गेन सह स्यात् निपात योजनीयम् इत्युक्तं समन्तद्राचार्यैः। स्यात् पदस्यार्थो वर्तते कथञ्चित् कयाचिदपेक्षया कयाचित् दृष्टया इति।

आप्तमीमांसाग्रन्थे समन्तभद्राचार्यैः भावैकान्तस्य अभावैकान्तस्य उभयैकान्तस्य अवाच्यैकान्तस्य च अनेकान्तपल्लवितस्याद्पदेन खण्डनं कृतम्। अस्मिन् ग्रन्थे आचार्यैः स्याद्वादसिद्धान्तस्य विशदप्रतिष्ठापनं कृतम्।

ते स्पष्टं कृतवन्त: यत् कथं एकान्तवादे दोषा: वर्तन्ते कथञ्च तेषां निवारणं भवितुमर्हति तथा वर्ण्यते।

1. भावैकान्त:

भावैकान्तवादिन ये सन्ति ते पदार्थान् भावात्मकान् एव मन्यन्ते कस्यापि पदार्थस्य अभाव: नैव अङ्गीक्रियते। तै: एकस्मात् चतुर्विध अभाव: य: भवति तस्य विरोधो भवति। यदि अभावानां सत्ता न स्वीक्रियते तर्हि दोषा: उपस्थिता: भवन्ति। सर्वदा भावैकान्तं स्वीकुर्वन्ति चेत् चतुर्णाम् अभावानां कृते तु स्थानमेव न भवति। चत्वार: अभावा: सन्ति प्रागभाव: प्रध्वंसाभाव: अन्योन्याभाव: अत्यन्ताभाव: चेति।

वर्तमानपर्यायस्य पूर्वपर्याये अभाव एव प्रागभाव: उच्यते। एतम् अभावं न मन्यते चेत् कार्यात्मकद्रव्ये अनादित्वस्य प्रसङ्गो जायते।

भाविपर्याये वर्तमानपर्यायस्य अभाव एव प्रध्वंसाभाव: वर्तते। एतस्य अभावस्य अभाव स्वीकरणत्वात् कस्यापि द्रव्यस्य पर्ययस्य पदार्थस्य वा नाश एव न भविष्यति। द्रव्यस्य अनादित्वं भवति। कस्यापि द्रव्यस्य वर्तमानपर्याये समजातीयस्य अपरद्रव्यस्य अभाव यथा पुद्गलद्रव्यस्य वर्तमानावस्थायां अपरपुद्गलद्रव्यस्य वर्तमानपर्यायस्य अभाव: अन्योन्याभाव: उच्यते। एतस्य अभावस्य स्वीकरणं न भवेत् चेत् तेषाम् एकत्वप्रसङ्गो जायते।

एकस्मिन् द्रव्ये अपरद्रव्यस्य अभाव: अत्यन्ताभावो भवति, यथा पुद्गलद्रव्ये चेतनस्य अभाव: अत्यन्ताभाव:। एतस्य स्वीकरणं विना सर्वेषु पदार्थेषु एकत्वप्रसङ्गो जायते। भावैकान्ते सर्वदा एते दोषा: प्रत्युत्पन्ना: भवन्ति एव एतेषां दोषाणां निवारणार्थम् अनेकान्तदृष्ट्या चत्वार: अभावा: स्वीकरणीया: एव इति प्रतिपादितम् आचार्यै:।

2. अभावैकान्त:

भावैकान्ते दोषा: इति निश्चितं तदा अभावैकान्त स्वीकरणीय: किम्? सर्वे पदार्था: भावात्मका: इति मन्यते चेत् तेषां मते प्रमाणव्यवस्था अपि नैव उचिता प्रतीयते। तस्यामपि अभावस्य प्रसङ्गो भवति। यदा

प्रमाणस्यैव व्यवस्था न भवति तदा स्वमण्डनं परखण्डनञ्चापि कथं भवितुमर्हति। एतस्मात् अभावैकान्तोऽपि न समीचीन:।

3. उभयैकान्त:

अस्तु। भावैकान्त: न स्वीकरणीय अभावैकान्त: न स्वीकरणीय: तर्हि उभयैकान्त: स्वीकरणीय: किम्? नैव। उभयैकान्तपक्षं स्वीक्रियते चेत्। सोऽपि नास्ति विचारणीय। भावैकान्ते दोषा: अभावैकान्ते दोषा: तर्हि उभयैकान्ते अपि दोषा: भवन्त्येव। यत: एकान्तपक्षे सहानवस्थानविरोधं प्रत्यक्षमेव।

4. अवाच्यैकान्त:

त्रिषु एकान्तपक्षेषु दोषा सन्ति तदा यदि सर्वदा अवाच्यम् इति वदन्ति उत वा अवाच्यैकान्तस्य अवलम्बनं स्वीकृत्य वस्तुस्वरूपम् अवाच्यम् इत्यपि न वक्तुं शक्नुवन्ति।

एतेन प्रकारेण स्पष्टं जायते यत् भाव: अभाव: उभयम् अवाच्यञ्च एतानि चत्वारि अपि एकान्तदृष्ट्या न समीचीनानि। एतानि चत्वारि स्वीकृत्य अनेके समायान्ति। परन्तु यदि विधिप्रतिषेधे स्याद्वादनयेन विचार: क्रियते तर्हि कस्मै अपि दोषाय स्थानं न अवशिष्ट भवति। कोऽपि न कर्तुं शक्नोति विरोधो। स्याद्वादनयेनोच्यते यत् वस्तु कथञ्चित् भावस्वरूपम् कथञ्चित् अभावस्वरूपम् कथञ्चित् उभयस्वरूपम् कथञ्चित् अवाच्यम् कथञ्चित् भावाच्यम् कथञ्चित् अभावावाच्यम् कथञ्चित् भावाभावावाच्यञ्चेति।

एकान्तदृष्ट्या कस्यापि कथनं सत्यं प्रामाणिकञ्च न भवति तस्मात् स्याद्वाद: स्वीकरणीय: एव। यथा नित्यैकान्त: अनित्यैकान्त: सदेकान्त:, असदेकान्त: इत्यादीन् स्वीकृत्य अस्माकं कथनं वचनं सुव्यवस्थितं न भवति। स्याद्वाद एव विशदयति यत् पदार्थ कथं नित्यं कथञ्च अनित्यं वर्तते। कया दृष्ट्या सत् कया दृष्ट्या च असत् राजते। अन्तत: स्याद्वादस्य लक्षणमपि स्पष्टं करोति यत् अनेकान्तस्य कथनशैली स्याद्वाद:। स्याद्वादविषये आ तमीमांसायां सुन्दरमुक्तम्। तद्यथा–

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥ (आप्तमीमांसा 14)
स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः। (आप्तमीमांसा 104)
भावैकान्ते पदार्थानामभावामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्॥ (आप्तमीमासा 9)
कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे। (आप्तमीमांसा 10)
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्।
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वदा। (आप्तमीमांसा 11)
अभावैकान्तपक्षेऽपि भावपह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम्। (आप्तमीमांसा 12)

धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो।
तह इह वंछइ मूढो, णयरहिओ दव्वणिच्छित्ती॥
–समणसुत्तं, गाथा 692

जैसे धर्मविहीन मनुष्य सुख चाहता है या कोई जल के बिना अपनी प्यास बुझाना चाहता है, वैसे ही मूढ़जन नय के बिना द्रव्य के स्वरूप का निश्चय करना चाहते हैं।

विभिन्नक्षेत्रेषु स्याद्वादः

–सत्यवान्*

स्याद्वादः जैनदर्शनस्य सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णं सिद्धान्तः वर्तते। अस्य विषयस्य अस्मिन् दर्शने तदेव स्थानं वर्तते यत् बौद्धमते 'प्रतीत्यसमुत्पादवादः' इत्यस्य तथा च वेदान्तदर्शन 'अद्वैतवाद' इत्यस्य वर्तते। कतिचन विद्वांसः स्याद्वादमेव संशयवादमपि कथयन्ति, परम् एतत् कथनं समीचीनं नास्ति। अत्र वयं स्याद्वादमतस्य समालोचनां कुर्मः।

विश्वे अनेके दार्शनिकमताः सन्ति। दार्शनिकाः विश्वस्य व्याख्यां विभिन्नप्रकारेण, विविधेषु सन्दर्भेषु कृतवन्तः। परम् अस्य अयम् आशयः नास्ति यत् कश्चित् असत्यः कश्चित् सत्यः इति। सर्वे दार्शनिकमताः विभिन्नदृष्टिकोणैः वर्तन्ते। अतः कस्यचित् मतस्य स्थापना अथवा खण्डने 'स्यात्' शब्दस्य प्रयोगः कर्तुं शक्यते।

स्याद्वादः कथयति यत् पदार्थेषु अनन्तधर्माणां सत्ता वर्तमाना वर्तते। अस्मिन् वयम् एकस्मिन् समये कतिचन धर्माणामेव ज्ञानं प्राप्तुं शक्नुमः, तथा च केषाञ्चित् प्रतिपादनं कर्तुं शक्नुमः। दार्शनिकं सत्यमपि केवलम् आंशिक अस्ति यतोहि पूर्णसत्यस्य उद्घाटनं कार्यं नितान्तं कठिनं वर्तते। अतः प्रसिद्धजैनाचार्यहेमचन्द्रसूर्यनुसारं स्याद्वादः सिद्धान्तो विविधाभिरपेक्षाभिः एकस्मिन्नेव वस्तूनि नित्यताऽनित्यतासदृशताविसदृशतावाच्यताऽवाच्यतासत्ता-प्रभृतिना परस्परं विरुद्धं प्रतीयमानानां धर्माणां प्रतिपादनं विधाय युक्तियुक्तं समन्वयं प्रस्तौति।

उपादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्–

जैनतार्किकपरम्परायां प्रत्येकं द्रव्यं सत्पदार्थो वा परिणामत्वात् एकं

* शोधछात्रः जैनदर्शनविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

धर्मं विहाय द्वितीयं स्वीकुरुते। अनया प्रकृत्या प्रत्येकं सतः उत्पादः, व्ययः (विनाशः) च भवति। तथापि तस्य सत्पदार्थस्य स्वत्त्वं न विनश्यति।

तत्रोत्पादव्ययौ च सदैव सत्तां स्थापयतः। एतद् 'ध्रौव्यम्' इति कथ्यते। अनया विवेचनयेदं स्पष्टं भवति यदुत्पादव्ययाभ्यां सह सत्पदार्थे 'ध्रौव्य' नामकः तृतीयोऽपि धर्मः भवत्येव। यथा – मृत्तिकानिर्मितघटे विनष्टेऽपि मृत्तिकायाः सत्त्वं तिष्ठति। तथैव कस्यापि तत्त्स्य स्वरूपज्ञानार्थं तस्य अनेके धर्माः विचारणीयाः भवन्ति। अस्मादनेकधर्मत्वादेव किमपि वस्तु अनेकान्तत्वं प्राप्नोति। तदर्थं 'स्यात्' इत्यस्यापि प्रयोगो विधीयते यस्यार्थो भवति 'कथञ्चित्'।[2] अर्थात् तद्वस्तु तद्रूपत्वेन नहि अपितु भिन्नरूपत्त्वेन भवत्येव। अस्य सत्यस्याभिव्यक्तिरेव स्याद्वादः योऽथं पुनरप्यनेकान्तवादत्वेन व्यवहियते।[3]

अनेकान्तदृष्टौ प्रत्येकं वस्तु नित्यमनित्यञ्च, द्रव्यं नित्यं पर्चायमनित्यं यतोहि जविद्रव्यं विनाशता न सम्पद्यते। परं पदार्थाः परिवर्तनशीलाः। 'तत्त्वार्थसूत्रानुसारं'[4] प्रत्येकं सद्पदार्थः उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्यात्मकश्चास्ति, अतः सः पर्यायेणोत्पद्यमानः विनयश्चयन् च द्रव्यवृत्त्या ध्रुवमस्ति। अत्र जैनमतानुसारं सत्पदार्थः न कदाचित् विनश्यति न वा असत् पदार्थः कदाचिदुत्पद्यत एव।[5] पूतेष्वनन्तधर्मेषु विधिनिषेधभावनया प्रत्येकं धर्मस्य साधुव्यवस्थापनाय सप्तभावनाः परिकल्पिताः एता एव सप्तभंगीनयत्वेन[6] व्यपदिश्यन्ते।

जैनदर्शनस्य सिद्धान्ताः न केवलं पारमार्थिकदृष्ट्या अपितु लौकिकदृष्ट्या अथवा व्यावहारिकदृष्ट्या अपि अत्यन्तम् उपादेयसिद्धं वर्तते। आधुनिकसमये धार्मिकं, सामाजिकम् इत्यादिषु क्षेत्रेषु अपि अनेकान्तस्य व्यावहारिकी उपयोगिता अस्ति अथवा नास्ति अस्मिन् क्षेत्रे एतत् सर्वं चिन्तनीयमस्ति।

आधुनिकयुगे व्यावहारिकतायाम् अत्यधिकं ध्यानं दत्तमस्ति। अद्य केवलं वैचारिकता उपयोगी नास्ति, यदा तदा तस्य व्यावहारिक उपयोगिता न स्यात्। अद्यतन प्रत्येकस्मिन् विषये व्यावहारिकतायाः दृष्टया समन्वयस्य

एवं सामञ्जस्यं अनिवार्यरूपेण आवश्यकं वर्तते। अनेन विना संसारस्य कस्यापि सम्पादनं कठिनं वर्तते।

येन प्रकारेण दिग्भ्रामितः पुरुषः दिशासूचकयन्त्रसहायतया गन्तव्यं प्रति गन्तुं शक्नोति, तेन एव प्रकारेण समन्वयस्य आधाररूपेण अद्यतन जीवने समस्यानां समाधानं कर्तुं शक्यते। अतः अनेकान्त समन्वयस्य प्रयोजनः दृढाधारः वर्तते। अस्मिन् दृढाधारः वर्तते। अस्मिन् परिप्रेक्ष्ये अनेकान्तस्य व्यावहारिकतायां विचारः कर्त्तव्यः।

(1) धार्मिकक्षेत्रे

प्राचीनसमये धार्मिककट्टरता अत्यधिक बलवती आसीत्। परस्परं सम्प्रदायेषु रागद्वेषस्य भावना, खण्डमण्डनयोः बहुलत्ता एवञ्च तीव्रसघर्षस्य सम्भावना अत्यधिका आसीत्।

किन्तु अधुना समयः परिवर्तितः। प्राचीनसमये एकराष्ट्रस्य भावना शिथिला आसीत् किन्तु अद्य एषा भावना सम्यक् सुदृढ़ा। अद्य वयं एकस्मिन् सम्प्रदायपुरुषा इव धर्मनिरपेक्षराष्ट्रे समूहरूपेण वसामः। भावनात्मएकता एवं सहिष्णुतायाः भावना वयं श्रद्धया एवं शान्तिरूपेण सम्पादयामः धर्मनिरपेक्षतायाः सिद्धान्तोऽपि मूलतः अस्य विषयस्य समर्थनं करोति यत् स्व-स्व भावनानुसारं प्रत्येकपुरुषः कस्यापि धर्मस्य अनुपालनं कर्तुं स्वतन्त्रः अस्ति अन्यदेशेषु अपि विभिन्न धार्मिकविचारकाः अनेकान्तवादी दृष्टिकोणस्य, भावनात्मक-एकतायाः तथा च समन्वयस्य भावनां विहाय एकस्मिन् समूहे स्थातुं नशक्नुवान्त।

(2) सामाजिकक्षेत्रे

समाजस्य मुख्यधारायां विभिन्नविचारकाः निवसन्ति। तेषां सामाजिकक्षेत्रे आवासः रूचिः, भोजनम् एवं भाषाः इत्यादि सर्वमपि भिन्नं भवति। तेषा पारम्परिक विभिन्नताः वर्तन्ते। एतासु विभिन्नतासु अपि मानवः समन्वयस्य एवं प्रेम्णा सामाजिकातायाः निर्वहणं करोति। विभिन्नतासु अपि एकतास्थापनं कार्यं अनेकान्तिकादृष्टिकोणणेन एव क्रियते। अतः समष्टिम् अस्य विषयस्य अंशानाम् अवगमनम्

आवश्यकमास्ति। यदि वयम् अंशानाम् उपेक्षां कुर्मः तर्हि: अन्शी वर्तते सः सर्वाङ्गम् एवं सम्पूर्णरूपेण अवगन्तुं न शक्नोति। सामान्यतः समाजे यः कलहः अथवा वाद-विवादः भवति, तत् सर्वं दुराग्रहिण, हतवादितायाः कारणेन, तथा च एकस्मिन् एव पक्षे स्थिरतत्त्वेन भवति। अनेन प्रकारेण एव आइ सटीनमहोदस्य सापेक्षावादोऽपि अस्य उपरि एव आधारिता वर्तते। अग्रे सगुणस्य निर्गुणस्य च, ज्ञानस्य भक्त्याः विवादं समीचीनं कृतमस्ति। इदं चिन्तनं वर्तमान सन्दर्भे अत्यधिकं सार्थकम् एवं प्रासङ्गिकञ्च अनुभूयते। एतादृशानां मूलप्रेरकसिद्धान्तानाम् आधारः अनेकान्तः एव वर्तते। अतः अनेकान्तदृष्टिकोणेन सामाजिकक्षेत्रे परस्परं सामाजिकं सौहार्दः, समरसता वर्धिष्यति।

(3) साहित्य-कला-संस्कृति-क्षेत्रे

अद्यतन वैचारिकतायाः क्षेत्रे, साहित्य कला संस्कृति क्षेत्रेऽपि अनेकान्तवादः अत्यधिकोपयोगीः एवञ्च सम्यक् दृष्टिप्रेरकः वर्तते। सहस्र वर्षपूर्वम् भगवान् महावीरः नयपद्धतिमाध्यमेन अपेक्षाभङ्ग इत्यस्मिन् विषये गूढाध्ययनं कृतवानासीत्। यदि अद्यतन समाजनीतिः राजनीतिः इत्यादि विषयेषु स्वीक्रयते महात्मा गान्धीमहोदय वदति तेनप्रकारेण प्रत्येकमानवः स्वे स्वे कर्मव्याभिरतः भूत्वा योग कर्मसु कौशलम् इत्यस्य अनुशरणं काईष्यति। मनोविश्लेषण शास्त्रस्य आचार्याः जानान्ति यत् पूर्वाग्रहः मनोरोगः इव वर्तते। किञ्चिदापि ज्ञानं विकसितंन भवति यत्र ज्ञानं नास्ति, तत्र सृजनं कथं शक्यते? एतादृशी दिशायां विभिन्नप्रकारेण प्रेरणा प्राप्यते। तद् अस्मान् अवक्तव्यम्। पर्यन्तं मानवीयकल्पनां नयति।

अनेन प्रकारेण साहित्य-कला-संस्कृति-क्षेत्रे अपि अनेकान्तस्य आधुनिकतायाः सन्दर्भे उपयोगिता सिद्धिं याति।

(4) अन्तर्राष्ट्रियक्षेत्रे

मानवविकासस्य इतिहासः अस्य साक्ष्यं करोति यत् विज्ञानेन अस्त्र शस्त्रणां सम्यक् निर्माणं कृतमस्ति। मानवेन निहितस्वार्थवश तेषां (अस्त्र शास्त्राणां) निर्ममतया प्रयोगः कृतः। फलस्वरूपं संहारकदृश्यं

सर्वत्र दृश्यते। विश्वस्य प्रथमम् एवं द्वितीयं महायुद्धम् अस्य ज्वलन्तं प्रमाणं वर्तते। मानवमनसा संहारकशास्त्रैः त्रस्तः भूत्वा पारस्परिक सहानुभूत्याः सह अस्तित्वम् इत्यादिषु आधारिकृत्य तेन शान्ति स्थापिता। अतः एतत् निश्चितमस्ति यत् आहिंसया सम्पादितविजयः स्थायी एवं शाश्वतः वर्तत्ते। वैचारिक आहिंसायाः नाम एव अनेकान्तः वर्तते।

अनेकान्तः विश्वनागरिकतायाः मूलाधारः वर्तते। अहिंसामाध्यमेन एव अस्तित्वं शक्यते, अन्य कश्चित् उपायः नास्ति अत्र विषयद्वयमपि विश्वसनीयौ स्तः। अयं विश्वासः परिवारस्य, समाजस्य, राष्ट्रस्य अस्मिन् एव क्रमे सम्पूर्ण विश्वस्य पारम्परिकसद्भावस्य स्नेहस्य तथा च योगस्य अपि आधारः वर्तते। एते द्वे तत्त्वे संगच्छध्वम् संवदध्वम् इत्यनयोः ध्वनिं सर्वत्र प्रसारयाति। अतः अद्य सम्पूर्णविश्वः सजगः, सतर्कः वर्तते।

आचार्यसिद्धसेनस्य कथनानुसारं त्रयाणां लोकानाम् अद्वतीयः विषयः अनेकान्तवादः–

जेण विणा लोयस्स वि विवहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्य भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥

निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्यते यत् अनेकान्तः तथा च स्याद्वादः विजयद्वयमपि व्यावहारिकजीवने सर्वदा वर्तते।

सन्दर्भ

1. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोकः 25।
2. मोहनलाल मेहता, जैन धर्मदर्शन पृ. 385
3. लघीयस्त्रय टीका, पृ. 62
4. तत्त्वार्थसूत्रम् 5
5. पञ्चास्तिकाय 15
6. आचाराङ्ग 10.10.6

जैनदर्शने स्याद्वादस्य विमर्शः

–दीपककुमारद्विवेदी *

भारतीयदर्शनशास्त्रे प्रत्येकदर्शनस्येकः सिद्धान्तः, तस्मिन् तदात्मनिर्भरो स भवति। यथा सांख्ययोगयोः सत्कार्यवादो, न्यायेऽसत्कार्यवादः वेदान्ते विवर्त्तवादः, चार्वाके देहात्मवादः, बौद्धे शून्यवादश्च प्रसिद्धाः सन्ति तथैव जैनदर्शनेऽपिः स्याद्वादसिद्धन्तः यावत्पदार्थस्य गुणावगुणयोः विषये सम्यग्ज्ञानं न प्राप्यते तावत् तस्य सत्स्वरूपस्य ज्ञानं नैव कर्तुं शक्यते।

जैनवाङ्मयस्य दार्शनिकक्षेत्रे सप्तभङ्गीवादस्यास्य विस्तारयितुं श्रेयं प्राप्यते समन्तभद्राचार्यम्। स आप्तमीमांसाग्रन्थे स्वकालीनसदैकान्तवादी सांख्याचार्यः, अवाच्यैकान्तवादीबौद्धानां, दुराग्रहवादस्य निराकरणं विहाय, प्रमुखचतुर्भङ्गानां प्रयोगः कृतवान् शेषत्रयभङ्गानामुपयोगस्य कृते सङ्केतमात्रं तेन दत्तम् स्वामीसमन्तभद्राचार्येण स्वसुप्रसिद्धग्रन्थे देवागमस्तोत्रे स्याद्वादस्य अत्यन्तं शोभनं लक्षणं कृतम्–

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो, हेयादेयविशेषकः॥104॥[1]

आप्तमीमासायां अष्टशतीभाष्यकारेण श्रीअकलङ्कदेवेन विधानम् इत्थं कृतम्–शङ्कराचार्यस्य अनिवर्चनीयवादः सदवक्तव्यं, बौद्धानाम् अपोहवादः असदवक्तव्यं, योगस्य पदार्थवादः सदसदवक्तव्यकोट्यां सम्मिलितो भवति। **स्याद्वादः**–स्याद्वादः ज्ञानस्य सापेक्षताया सिद्धान्तः, स्यात् पदस्यार्थः सम्भवतः संशयश्च नास्ति। परं जैनदर्शने 'स्यात्' शब्दस्य प्रयोगो विशेषार्थेऽभवत् यः ज्ञानस्य सापेक्षतायाः सूचकः। यावत्स्यात् पदस्य सुष्ठुरूपेण ज्ञानं न भवति

---

* शोधछात्रः न्यायविभागे, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठम्, नवदेहली

तावच्चास्य विशेषतां न ज्ञातुं शक्यते? अत एव कस्यापि सिद्धान्तस्य मूलतत्त्वज्ञानार्थं सात्त्विकज्ञानमावश्मकम्। विरोधीदार्शनिका: 'स्यात्' इति पदस्य सम्यगर्थं न कृत्वा भ्रान्तिवशात्शायदवाद: संशयवाद: सम्भवनावाद: इत्यादय: अनेकानि रूपाणि प्रस्तुवन्ति स्यात्पदं न तिङ्गतं सन्देहवाचकञ्च, इदं निपात: एकस्या निश्चितापेक्षाया: वाचक:। तार्किकचूड़ामणिसमन्तभद्रेण निगदितम्–

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि।।[2]

आचार्यसमन्तभद्र: स्याद्वादं केवलज्ञानसमं सर्वतत्त्वप्रकाशको मन्यते तत्र प्रत्यक्षपरोक्षविषयको केवलं भेद:।[3]

भारतीयदर्शने स्याद्वाद:–भारतीयदर्शनस्य मुख्यं लक्ष्यं मोक्षप्राप्ति:। सर्वे दार्शनिका: स्व स्वविवेकानुसारं स्वसिद्धान्त: प्रसारित: परञ्च लक्ष्यमेकमेवास्ति। न्यायसूत्र– भाष्यकार: महर्षिवात्स्यायन: भाष्ये लिखितवान् नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्याय: प्रवर्तते किं तर्हि संशयेऽर्थे प्रयुक्तो भवति, तर्कभाषाकारेण केशवमिश्रेण वर्णितम् 'एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्म वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशय: स्थाणुर्वा पुरुषो वा'। अत्रापि अस्ति नास्ति इत्थंमभयात्मकं ज्ञानं भवति। वैदिकसाहित्येऽपि स्याद्वादसिद्धान्तस्य अस्तित्त्वं जैनाचार्य–महावीरस्य पूर्वं प्रमाणितं भवति स्म। ऋग्वेदस्य नासदीयसूक्ते सृष्ट्या: ब्राह्मणं सत्सत् भिन्नं वर्णनं कृत्वा अन्यत्र सत् कथयति कस्मिन्स्थाने अतस्तदपि एकस्मिन् पदार्थे उभयात्मकं धर्मा उत्पद्यन्ते। किन्तु अस्य उपपत्ति: अपेक्षावादस्यानुसारं सम्यग्प्रकारेण भवति। अत एव स्पष्टं भवति वैदिककालेऽपि स्याद्वादस्य प्रचारोऽभवत्। उपाध्याययशोविजयस्य निम्नवाक्येन अस्य विषयस्य पुष्टि: भवति–

ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान् नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदा: स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्।। (नयोपनिषद्)

मध्यकालीनदार्शनिकग्रन्थेषु स्याद्वादस्यालोचना मिलति महाभारतस्य टीकाकार: उल्लेखं करोति–

''सर्वं संशयितमति स्याद्वादिनः सप्तभङ्गीनयज्ञाः''

अत एव सिद्ध्यते स्याद्वादोऽत्यन्तः प्राचीनः सिद्धान्तः। बौद्धसाहित्येऽपि दीर्घनिकायसमञ्जफलसत्तग्रन्थे उल्लेखं मिलति बौद्धमतप्रवर्तकः संजयवैरत्थी आसीत् तस्य सिद्धान्तः स्याद्वादस्य विकृतरूपः।।[5]

वास्तविकरूपेण स्याद्वादसिद्धान्तः जैनदर्शने महावीरमुनेः प्राचीनः। ज्रीसमन्तभद्रादिजैनाचार्याः इमं विस्तृतं कृतवन्तः। भगवता महावीरस्वामिना स्वानुपमैः विलक्षणवचनैः पूर्णसत्यस्य उपदेशं प्रदत्तं तेषामुपदेशः संसारसागरेऽस्मिन् 'श्रुत' नाम्ना प्रख्यातोऽभवत्। उपदेशस्यास्य प्रत्येकं वाक्यं 'स्यात्' कथंचित् वा कापि अपेक्षया माध्यमे नाभवत् यतोहि तेन विना सम्पूर्णसत्यस्य प्रकाशनं न भवितु शक्नोति अत एव उपदेशं 'श्रुत इदमेव समन्तभद्राचार्येण स्याद्वादनाम्ना सम्बोधितम्-

स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।(आप्तमीमांसा)

सप्तप्रकाराणां भंगानां समूहः सप्तभङ्गी नाम्ना विख्यातोऽस्ति। ऐषां सप्तवाक्यानां मूलं विधिः प्रतिषेधश्चास्ति। आधुनिकविदुषः इमानि विधिप्रति-षेधपद्धतिनाम्ना प्रकाश्यन्ते।[6]

सम्पूर्णजैनवाङ्मये आचार्यकुन्दकुन्दस्य पञ्चास्तिकाये प्रवचनसारे च सर्वप्रथमं सप्तभङ्गानामुल्लेखं प्राप्यते। अन्यदर्शनेषु अनेकान्तवादसमर्थकः अनेकविचारः प्राप्यते। अत एव एतद् असत्, उभय, अनिर्वचनीय भङ्गानामाशयः पृथग्रूपेण वैदिकदर्शनेष्वपि दृष्टिगोचरो भवति बौद्धदर्शने तु अनेकेषु स्थानेषु सत्, असत् उभयानुभयानाम् उल्लखो मिलति-

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तः तत्त्वं माध्यमिका विदुः।।[7]

यथा न्यायवैशेषिक-सांख्ययोग-वेदान्त-दर्शनेषु चतुर्थपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं स्ववादः तथैव नयः, उपनयः, स्याद्वादः अनेकान्तपद्धतिः सप्तभङ्गी इत्यादिभिः श्रुतज्ञानस्य आराधनार्थं मोक्षपुरुषार्थस्य मूलमस्ति। स्याद्वादानेकान्तवादयोः च

इतिहासानाद्यस्ति एकान्तस्य विषयः सनातनः अनेकान्तस्य क्षेत्र व्यापकः। अनेकान्तः वाच्यः, स्याद्वादो वाचकः। एकस्मिन् वस्तुनि अनेकविधिनिषेधानां कल्पना सप्तभङ्गी अस्ति।

स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावेन घटोऽस्ति इति कथ्यते एवञ्च परद्रव्यक्षेत्र कालभावेन घटस्य नास्ति इति विरुद्धार्थोत्पद्यते अनेकान्तात्मकार्थकथन[8] स्याद्वादः'' प्रत्येकपदार्थेऽनन्तगुणविद्यमानाः सन्ति। अत्र अनेकस्यार्थः अनन्तः अनन्तस्य अर्थः गुणधर्मश्च भवति। अनन्तगुणात्मकपदार्थः एव अनेकान्तः स्याद्वादः सर्वेषां पदार्थानां स्वरूपसिद्धकारकः अर्हन्तसर्वज्ञस्य निर्बाधनियमः। स्याद्वादः प्रोच्यते अनेकान्तस्वभावयुक्ताः पदार्थाः सम्पूर्णपदार्थानेकात्मकाः[9] इत्थं पदार्थे वस्तुतत्त्वं उत्पादकः परस्परविरुद्धशक्त्योः प्रकाशनम् अनेकान्तः।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥[10]

एवं वयं पश्यामः यदनेकान्तः स्याद्वादतः जैनदर्शनस्य तादृशो विषयः यं विषयं परिज्ञानमन्तरा जैनदर्शनं दुर्बोध्यं। अत एव जैनदर्शनविषये प्रवेशार्थं प्रकृतविषयस्य गम्भीरतया ज्ञानमपेक्षितं तत्र प्रयत्नं विधेयम्।

उपसंहार

एकस्मिन् वस्तुनि केवलं एका सत्ता प्रादुर्भवति इत्थं न वक्तुं शक्यते। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावेन अस्ति नास्ति रूपे प्राप्यते। वस्तुनः धर्मस्य ज्ञानमधर्मज्ञानं विना न भवति मम दृष्ट्या घटोऽस्ति, अन्येषां दृष्ट्यां घटो नास्ति प्रथक् ज्ञानं भवति।

इतरदर्शनवाङ्मये स्याद्वादसिद्धान्तस्य उल्लेखं तु न मिलति किन्तु वैदिकावैदिकदर्शनयोः पर्यायरूपे दृश्यते। स्याद्वादः अपेक्षावादस्य सिद्धान्तः सदसत्भावविरोधीधर्माणां समन्वयः एव जैनदर्शनस्य स्याद्वादः अनेकवादः। अस्य मतानुसारं वस्तुः अनन्तस्वरूपयुक्तम् अनन्तधर्मसमाविष्टः कस्यापि पदार्थस्य एकरूपता सर्वथासम्भवा।

पदार्थस्य यथार्थस्वरूपनिर्णयार्थं स्याद्वादस्य उपयोगः सर्वप्रथमः। जैनदर्शनस्य स्याद्वादभास्करस्य मयूखैः सर्वाणि दर्शनानि निर्बाधरूपेण

प्रकाशितानि सन्ति। स्याद्वादः आत्मशान्त्या सह विश्वशान्तेः प्रतिष्ठापक-सिद्धान्तः।

सन्दर्भ

1. शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः। –आप्तमीमांसा श्लोक 104
2. आप्तमीमांसा, श्लोक 103
3. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
   भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।। –आप्तमीमांसा
4. दर्शन अनेकान्तवादः, पृष्ठ-133-135
5. महाभारत 2/2/33-36
6. (1) विधिकल्पना (2) प्रतिषेधकल्पना (3) क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना (4) सह विधिप्रतिषेधकल्पना (5) विधिकल्पना सह विधिप्रतिषेधकल्पना (6) प्रतिषेधकल्पना सह विधि प्रतिषेध कल्पना।
7. क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेध कल्पना। अष्टसहस्त्री पृ.-7 नागार्जुन विरचितः माध्यमिकरिका।
8. लघीयस्त्रयीटीका।
9. स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य सर्वमने-कांतात्मकमित्यनुशास्ति तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकः।
10. आचार्य समन्तभद्र, स्वयंभूस्तोत्रम्, श्लोक-103

शास्त्र ज्ञान का महत्त्व

सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे।।

जैसे धागा पिरोयी हुई सुई कचरे मे गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रज्ञानयुक्त जीव संसार में पड़कर नष्ट नहीं होता।

–समणसुत्तं, 248

अनेकान्त की व्यापकता

–प्रो. दयानन्द भार्गव*

अनेकान्त और अनेकान्तवाद–

1. सर्वप्रथम मैं अनेकान्त और अनेकान्तवाद में अन्तर करना चाहता हूँ। मेरा ऐसा करने का आधार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है जिसमें वेद तथा वेदवाद शब्दों का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः।।

कामात्मनः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।

स्पष्ट है कि यहाँ 'वेदवाद' 'रत' लोगों की यह कहकर निन्दा की गयी है कि वे यह कहा करते हैं कि 'नान्यदस्ति' 'इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। 'इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है'– यह जैन परम्परा के 'एव' की ही व्याख्या है। जैनविद्या के अध्येताओं के बीच कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'एव' एकान्त का सूचक है। जब कोई वैदिक धर्मावलम्बी यह कहता है कि वेद ही सब कुछ है, वेद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तो वह समाधि को प्राप्त नहीं कर

* पीठाधीश, मधुसूदन ओझा वेद विज्ञान पीठ, श्री रा. ज. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

सकता। यह वेद के प्रति एकान्त दृष्टि रखने का परिणाम है। अभिप्राय यह है कि वेद अपराविद्या है। वह स्वर्ग की प्राप्ति का साधन तो है किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि वेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि यदि वेद अपराविद्या है तो उसके अतिरिक्त एक पराविद्या भी है जिसके द्वारा अक्षर तत्त्व का अधिगम होता है–

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

अर्थात् वेद एक अपेक्षा से सार्थक है किन्तु दूसरी एक ऐसी अपेक्षा भी है जहाँ वेद की गति नहीं है। वह क्षेत्र पराविद्या का है। इसी बात को गीता में **'त्रैगुण्यविषया वेदाः नैस्त्रैगुण्यो भवार्जुन (2.45)** कहकर प्रकट किया गया है। यह तो एक अपेक्षा से वेद की सीमा हुई, दूसरी अपेक्षा से वेद के प्रशंसापरक वाक्य भी गीता में ही उपलब्ध हो जायेंगे **प्रणवः वेद्यः (15.15)** इत्यादि। निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ वेद की सीमा बतायी गयी वहाँ 'वेदवाद' शब्द का प्रयोग है किन्तु जहाँ वेद की प्रंशसा की गयी है वहाँ 'वेदवाद' के स्थान पर केवल 'वेद' शब्द का प्रयोग है। इस आधार पर मैं कहना चाहता हूँ कि जहाँ तक अनेकान्तवाद का प्रश्न है, वह वाद है, एक दर्शन है, एक दृष्टि है। उस दर्शन को हम आज जैनदर्शन के नाम से जानते हैं। स्वाभाविक है कि यदि जैनदर्शन एक दर्शन है तो वेदान्त, बौद्ध आदि अन्य दर्शन भी हैं जिनका जैनदर्शन से मतभेद है। अतः वे दर्शन अनेकान्तवाद को स्वीकार नहीं करेंगे। यदि वे भी अनेकान्तवाद को स्वीकार कर लें तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, वे तो जैनदर्शन में ही[3] विलीन हो जायेंगे। अतः अनेकान्तवाद की स्वीकार्यता सीमित ही है। वह अधिक से अधिक वस्तुवादी दर्शनों (Realist Systems) को स्वीकार हो सकता है। जैसा कि पूर्व मीमांसा को स्वीकार है भी किन्तु प्रत्ययवादी (Idealist Systems) दर्शन उसे स्वीकार नहीं कर सकते जैसा कि वेदान्त और बौद्ध उसे स्वीकार नहीं करते है। यही अनेकान्तवाद की सीमा है; वह वस्तुवादियों को स्वीकार्य है, प्रत्ययवादियों को स्वीकार्य नहीं है। किन्तु यदि अनेकान्त को एक वाद बना कर उसे विवाद का विषय न बनायें, (तुलनीय–गीता (10.32) वादो विवदतामहम्) तो अनेकान्त की स्वीकार्यता

सर्वव्यापक हो सकती है। अतः हम 'अनेकान्तवाद' पर विचार न करके प्रस्तुत पत्र में यह विचार करेंगे कि 'अनेकान्त' की सर्वव्यापकता तथा सर्वदर्शनस्वीकार्यता कैसे बनती है। वाद के रूप में तो किसी भी सिद्धान्त की स्वीकार्यता सीमित हो सकती है। वाद का स्वरूप ही ऐसा है कि वह एकपक्षीय ही होता है।

वेदान्त और अनेकान्त

2. 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या करते समय आचार्य शंकर ने अनेकान्तवाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि एक में परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते, अतः अनेकान्तवाद समीचीन नहीं है। इस पर अनेक जैन तथा जैनेतर विद्वानों का कहना है कि आचार्य शंकर अनेकान्तवाद को ठीक से समझे नहीं। मेरा मानना है कि आचार्य शंकर ने अनेकान्तवाद को ठीक से समझकर ही उसका खण्डन किया है। वे अद्वैतवादी हैं। उनके अद्वैतवाद का आधार निरपेक्षता है जबकि अनेकान्तवाद का आधार सापेक्षता है; सापेक्षता सदा अनेकों में हो सकती है, एक में तो निरपेक्षता ही होती है। जब श्रुति का घोष है कि 'नेह नानास्ति किंचन' तो इस श्रुति का अनेकान्तवाद से कैसे मेल हो सकता है? अतः अद्वैतवादी शंकराचार्य ने अनेकान्तवाद को समझकर ही उसका खण्डन किया है; यह कहना ठीक नहीं है कि आचार्य शंकर अनेकान्तवाद को समझे नहीं थे। आगम-प्रमाण को मानने वाले किसी भी ऐसे तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते थे जो तर्क आगम के विरुद्ध जाये। शंकराचार्य की यही स्थिति है। वे श्रुति को अद्वैतवादी मानते थे और अनेकान्तवाद से द्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। फिर शंकराचार्य अनेकान्तवाद को कैसे स्वीकार करते? इस पर यह आरोप आ सकता है कि श्रुति तर्कविरुद्ध है। उत्तर यह है कि तर्क दोनों प्रकार का सम्भव है-श्रुतिविरुद्ध तर्क भी है तथा श्रुतिसम्मत तर्क भी है। उसे श्रुतिसम्मत तर्क की खोज करनी चाहिए-**श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।**

दो प्रकार के तर्क

3. डाक्टर सतकड़ि मुखर्जी ने दो प्रकार के तर्कों का उल्लेख

किया है। एक शुद्ध तर्क है जो अनुभवनिरपेक्ष है, दूसरा अनुभवसापेक्ष तर्क है। उदाहरणार्थ हम दो वाक्य लें–

1. गुलाबी रंग लाल रंग से हल्का होता है।

2. यज्ञदत्त देवदत्त से कद में छोटा है।

इसमें पहला वाक्य अनुभवनिरपेक्ष है। गुलाबी रंग का लक्षण ही है कि वह लाल रंग से हल्का होता है। अतः गुलाबी रंग लाल से हल्का होता है–यह सिद्ध करने के लिए लाल रंग और गुलाबी रंग का अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई यह कहे कि गुलाबी रंग लाल रंग से गहरा होता है तो उसका यह कथन अनुभव किये बिना ही अप्रमाणिक माना जा सकता है। उसे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पहले हम गुलाबी रंग और लाल रंग को देखेंगे फिर बतायेंगे कि तुम्हारा कथन सत्य है या नहीं। यह अनुभवनिरपेक्ष तर्क की स्थिति है। इसे a prori Logic कहते हैं। किन्तु उपरिलिखित दूसरे वाक्य की प्रामाणिकता को जानने के लिए यज्ञदत्त को देखना आवश्यक है। यज्ञदत्त और देवदत्त शब्दों में स्वयं में कोई ऐसा चिन्ह नहीं है कि बिना यज्ञदत्त को देखे यह बताया जा सके कि उनमें कौन कद में छोटा है और कौन कद में बड़ा है। अतः इस वाक्य की सत्यता अनुभवसापेक्ष तर्क से सिद्ध होगी। शंकराचार्य का यह कहना है कि 'कोई पदार्थ है भी नहीं भी' इस की सत्यता को जानने के लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं है। अस्ति नास्ति का व्यावर्तक है और नास्ति अस्ति का व्यावर्तक है। अतः जैन जिस अनुभव के आधार पर अस्ति और नास्ति का एक ही पदार्थ में युगपद् होना मान रहा है उस अनुभव की अपेक्षा किये बिना ही हम यह कह सकते हैं कि अस्ति और नास्ति परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और वे एक में युगपद् नहीं रह सकते। अतः अनेकान्तवाद समीचीन नहीं है। इसके विरुद्ध जैनों का कहना है कि सभी तर्क अनुभव से सिद्ध होते हैं। हम अनुभव से ही तो यह जानते हैं कि कोई पदार्थ या तो होता है या नहीं होता है। इसी आधार पर हम अस्तित्व और नास्तित्व को परस्पर विरुद्ध मानते हैं। किन्तु यदि हमें अनुभव से यह पता चले कि कोई

पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव से नहीं होता तो हमें यह मानना होगा कि पदार्थ स्वचतुष्टय से होता है और परचतुष्टय से नहीं होता।

इस प्रकार अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ का एक अपेक्षा से अस्तित्व और दूसरी अपेक्षा से नास्तित्व मानता है। इस के विपरीत वेदान्ती व्यवहार में जैन के तर्क से सहमत होते हुए भी परमार्थ में जैन के तर्क से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि जैन के अनुभव में जो सापेक्षता की दृष्टि से विरुद्ध धर्मों का युगपद् एक में रहना सिद्ध हो रहा है उसी के आधार पर हम भी संसार में व्यवहार करते हैं। अतः व्यवहार में अनेकान्त को स्वीकार किया जा सकता है इसीलिए हम माया को सदसदनिर्वचनीय मानते हैं। इसमें जैन की सप्तभंगी के तीन मूल भंग समाविष्ट हैं। माया प्रतीति में आती है अतः वह सत् है किन्तु वह विलीन हो जाती है इसलिए असद् है और क्योंकि सद् असद् युगपद् नहीं रहते इसलिए माया अननिर्वचनीय है– **'तदेव मायाया मायात्वं यत्तर्कासहिष्णुत्वम्'**। तर्क की कसौटी पर माया को नहीं कसा जा सकता क्योंकि तर्क की माँग है कि माया या तो सत् हो या असत् किन्तु यह दोनों है अतः इसे तर्क की कसौटी पर नहीं कस सकते। जैन का कहना है कि वेदान्ती जिसे असत् कह रहा है वह परिवर्तन अर्थात् उत्पाद-व्यय है और जिसे वह सत् कह रहा है वह ध्रुवता है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवता तो सदा ही साथ-साथ रहते हैं। यही सत् का लक्षण है–उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्। हो यह रहा है कि वेदान्ती सत् का लक्षण पहले निर्धारित कर लेता है कि सत् वह है जो सर्वथा ध्रुव हो और फिर जगत् को मिथ्या घोषित कर देता है।

सत्य की तरतमता

4. डॉक्टर डी. एस. कोठारी सत्य और मिथ्या की सापेक्षतापरक एक दूसरी व्याख्या करते हैं। जब तक जल, जल रूप में है तब तक जल सत्य है। किन्तु जैसे ही जल ऑक्सिजन और हाईड्रोजन में बदल जाता है, वह मिथ्या हो जाता है और ऑक्सिजन तथा हाईड्रोजन सत्य हो जाते हैं। किन्तु जैसे ही ऑक्सिजन तथा हाइड्रोजन क्वान्टम अर्थात् ऊर्जा

में बदलते हैं वैसे ही क्वान्टम सत्य हो जाता है तथा ऑक्सिजन और हाइड्रोजन मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार हम एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर चलते हैं, न कि असत्य से सत्य की ओर। पण्डित मधुसूदन ओझा इसे दूसरी दृष्टि से इस प्रकार कहते हैं कि मिथ्या में सत्य और असत्य का मिथुनी-भाव रहता है। मिथ्या अलीक का नाम नहीं है अपितु सत्यासत्य के मिथुनीभाव का नाम है। आचार्य शंकर भी **'सत्यानृते मिथुनीकृत्य जगत्प्रवर्तते'** कहकर जगत् के मिथ्यात्व की ऐसी ही व्याख्या कर रहे प्रतीत होते हैं।

सत् का लक्षण

वेदान्ती के विपरीत जैन जगत् को सत्य पहले मान लेता है और क्योंकि जगत् उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक है अतः वह सत् का लक्षण भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मकता कर देता है। अभिप्राय यह हुआ कि सत् के लक्षण में मतभेद होने के कारण यह मतभेद हो जाता है कि जगत् सत् है या नहीं। जिन दर्शनों ने भी जगत् को सत्य माना उन्हें एक-न-एक रूप में अनेकान्त को मानना ही पड़ा क्योंकि जगत् है ही त्रयात्मक। ऐसे दर्शनों में सभी वस्तुवादी दर्शन शामिल हैं, यथा पूर्वमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा चार्वाक। जिन्होंने जगत को वास्तविक नहीं माना उनके लिए जगत् का त्रयात्मक होना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् वास्तविक है ही नहीं। फिर भी जो प्रतीति में आ रहा है उसका सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्ययवादियों ने भी व्यवहार में तो अनेकान्त को स्थान दे ही दिया।

वेदान्त का अनेकान्त

5. अद्वैतवादियों ने अद्वैत की भी एक सीमा बाँधी—भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। क्रिया में अद्वैत नहीं है। द्वैतवादियों ने अद्वैतवाद पर जितने आरोप लगाये वे ये मानकर लगाये कि अद्वैतवादी व्यवहार में भी अद्वैत का अनुमोदन करे। (तुलनीय आतमीमांसा, 4, पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फले कुतः। बन्धमोक्षौ तेषां न येषां नासि नायकः) वस्तुस्थिति यह है कि आचार के क्षेत्र में जिस प्रकार जैन

अहिंसा, संयम, और तप की बात करता है, अद्वैतवादी भी द्वैतवाद का पालन करता है, दूसरे शब्दों में वह भी व्यवहार की अपेक्षा से अनेकान्ती ही है। रहा प्रश्न परमार्थ का सो अद्वैतवादी के लिए श्रुति का 'एकत्वमनुपश्यत' वचन प्रमाण है, वहाँ परमार्थ में यह एकान्त का ही समर्थन करता है। इस प्रकार वेदान्ती के अनेकान्त का अनेकान्त यह बनेगा कि व्यवहार की अपेक्षा अनेकान्त है, परमार्थ की अपेक्षा अनेकान्त नहीं है। 'अनेकान्त' को अनेकान्तवाद न बनायें तो उपर्युक्त वक्तव्य सापेक्ष होने के कारण अनेकान्त की सीमा में जा सकते हैं। किन्तु अनेकान्तवादी जैन को अनेकान्त में ऐसी सापेक्षता स्वीकार नहीं है। ठीक भी है; यदि जैन भी ऐसा अनेकान्त स्वीकार कर लेगा तो उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं होगा।

समयसारकलश

6. ऐसा नहीं है कि जैन मनीषिों ने वेदान्ती की इस स्थिति को न समझा हो। समयसारकलश का एक श्लोक है–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमधिकमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥

कठिनायी यह हुई कि जैसे ही जैन मनीषी ने अद्वैत की स्थिति समझनी चाही, उसे भी द्वैत का भान ही होना बन्द हो गया–भाति न द्वैतमेव।

प्रमाणातीत

7. अस्तमेति प्रमाणम्– जब प्रमाण अस्त होता है तो दो सम्भावनायें रहती हैं-या तो हम अप्रामाणिक हो जाते हैं या प्रमाणातीत हो जाते हैं **Supra Logical** हो जाते हैं। आगम प्रमाण अनुमान-प्रमाण के आधीन नहीं है कि आगम की हर बात अनुमान या तर्क द्वारा सिद्ध की जाये। आगम एक स्वतन्त्र प्रमाण है जिसका आधार पारमार्थिक

प्रत्यक्ष है जिसे वैदिक परम्परा 'साक्षात्कार' शब्द से कहती है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष इन्द्रियातीत है, जबकि अनुमान का आधार इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले 'भूयोदर्शन' के बल पर प्राप्त व्याप्ति का ज्ञान ह। दोनों का भिन्न क्षेत्र है। प्रमाण व्यवस्था यह होगी कि परमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान को बतलाने वाला आगम सदा निर्दोष रहेगा, जबकि इन्द्रियजन्य ज्ञान पर टिकने वाला अनुमान सदा हेत्वाभास की शंका से ग्रस्त रहता है। अतः अनुमान या तर्क के आधार पर आगम की साधुता-असाधुता का निर्णय नहीं हो सकता।

आगम प्रमाण

8. आगम तो श्रद्धा का ही विषय रहेगा। अतः तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान से भी पहले श्रद्धा को रखा है—**सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग।** हम तर्क से यह सिद्ध नहीं कर सकते कि अग्नि उष्ण है। यह तो अनुभवगोचर ही है। अतः आचारांगसूत्र ने कहा-**तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, सव्वे सरा निवट्ठन्ति।** उपनिषदों ने कहा-नैषा मतिस्तर्केणापनेया। निष्कर्ष यह हुआ कि जैन मनीषियों ने सभी भावों को सापेक्ष माना—**एको भावः सर्वथा येन ज्ञातः सर्वे भावाः सर्वथा तेन ज्ञाताः सर्वे भावाः सर्वथा येन ज्ञाताः एको भावः सर्वथा तेन ज्ञातः** इसका आधार केवलियों की वाणी है। **जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।** इस वाणी पर जिसकी श्रद्धा है वह सभी सत्यों को सापेक्ष मानता है और अनेकान्त का यही अर्थ समझता है कि सभी सत्य का आधार अनुभव है और क्योंकि अनुभव में सर्वत्र सापेक्षता आती है अतः निरपेक्ष सत्य कुछ भी नहीं है। इस विषय में यह आपत्ति आयी कि फिर तो सापेक्षता सर्वतोग्राही होने से स्वयं ही निरपेक्ष हो गयी। आचार्य महाप्रज्ञ ने इसका यह उत्तर दिया कि पंचास्तिकायों का अस्तित्व निरपेक्ष है। अतः अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक होगा न कि एकान्तात्मक। इसके विपरीत वेदान्ती के लिए नेह नानास्ति किंचन' की श्रुति प्रमाण है। अतः वह अनेकता को नहीं मानता प्रत्युत दृश्यमान अनेकता को द्वितीय श्रेणी का अर्थात् व्यावहारिक सत्य मानता है और वहाँ अनेकान्त की सत्ता को स्वीकार भी करता है। हमारा निष्कर्ष यह है कि जैन और

वेदान्ती के मतभेद का कारण श्रद्धा है, आगम पर विश्वास है। उसमें साधुता असाधुता का निर्णय तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। इस निष्कर्ष की पुष्टि में हम दिगम्बर-श्वेताम्बर के पारस्परिक मतभेद का प्रश्न लें। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही अनेकान्तवादी है। फिर ये दोनों अपना मतभेद अनेकान्तवाद की सापेक्षता के आधार पर मिटा क्यों नहीं लेते। उत्तर यह है कि इन दोनों के आगम उनकी श्रद्धा का विषय है। दोनों अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुकूल अचेलकत्व-सचेलकत्व के पक्ष में तर्क खोज लेंगे किन्तु किसका तर्क ठीक है—यह निर्णय कभी नहीं हो सकेगा क्योंकि यह मतभेद तर्क पर नहीं, श्रद्धा पर टिका है। दोनों को अपने-अपने तर्क ठीक नजर आते हैं क्योंकि तर्क तो एक निमित्त है, असली कारण श्रद्धा है। मतभेद तर्क के कारण नहीं, श्रद्धा के कारण है।

तर्क की पकड़ से परे

9. सन् 2010 में एक परीक्षण हुआ। बेरेलियम नाम की धातु के एक कण के बारे में यह पाया गया कि वह कण युगपद् ऊपर-नीचे अथवा दाँये-बाँये गति कर सकता है। एक ही कण एक ही समय में एक साथ दो विपरीत दिशाओं में गति करे-यह स्थिति तर्क की पकड़ से परे की है। जब यह स्थिति मैंने कुछ चिन्तकों के सामने रखी तो उन्होंने कुल मिलाकर यही कहा कि ऐसा नहीं हो सकता; वैज्ञानिकों को धोखा हुआ है। किन्तु वैज्ञानिकों का स्पष्ट और दृढ़ मत है कि ऐसा ही है। यह अटपटी (Bizzare) स्थिति वास्तविक है, दृष्टि का भ्रम नहीं है। यह स्थिति जैन आचार्यों के भी सामने नहीं आयी थी। अब तक हम प्रकृति से परे को ही अचिन्त्य मान रहे थे—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

अब स्थिति यह कि प्रकृति भी अचिन्त्य हो गयी है। यह अनेकान्तवाद भले न हो, अनेकान्त तो है ही कि एक कण में युगपद्

दो परस्पर विरुद्ध गतियाँ देखने में आ रही हैं। यह अनेकान्त का एक नया ही आयाम सामने आया है जिस पर न जैन, न वेदान्ती और न ही बौद्ध चिन्तकों ने विचार किया है।

10. वेद के नासदीय सूक्त के सामने अवश्य कुछ ऐसा रहा होगा जिसके लिए ऋषि को कहना पड़ा कि पता नहीं परमात्मा को भी सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य विदित है या नहीं है–

योऽस्या अध्यक्षः परमे वयोमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद

11. हमने अन्यत्र जैनेतर भारतीय दर्शनों में अनेकान्त के बीज खोजे हैं। वस्तुवादियों में सबने अनेकान्त को स्वीकार किया है किन्तु भेद और अभेद के बीच वैशेषिक दोनों को मानकर भी भेद को मुख्य मानता है, जबकि सांख्य दोनों में अभेद को मुख्य मानता है। जैन भेद-अभेद दोनों को समान महत्त्व देता है। डॉ वाई.जे. पद्मरज्जैया ने अपने ग्रन्थ Jaina Thoeries of Reality and knowledge में इस विषय पर विस्तार से प्रामाणिक रूप में विचार किया है। हमारा निष्कर्ष यह है कि जैन सम्मत अनेकान्त तो एक वाद के रूप में हमारे सामने है जो केवल जैनदर्शन तक ही सीमित है किन्तु वाद-मुक्त अनेकान्त बहुत व्यापक है। वैदिक परम्परा में भी **'असच्च सच्च परमे व्योमन्'** (ऋग्वेद 10.5.7) **'उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तञ्चानिरुक्तं च'। 'निरुक्तं परिमितम्- निरुक्तमपरिमितम्** (शतपथब्राह्मण 6.5.3.7) तथा **'तस्यह प्रजा-पतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्** (शतपथब्राह्मण 10.1.3. 2) आदि वाक्य स्पष्टतः अनेकान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। दार्शनिक युग में पूर्वमीमांसकों ने अनेकान्त का न केवल प्रतिपादन किया प्रत्युत नामतः भी अनेकान्त का स्मरण किया। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वनवाद, 21.22.23) निम्न श्लोक देखें–

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः।

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।

तुलनीय है शास्त्रवार्तासमुच्चय (7.478)

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

इतना ही नहीं, अनेकान्त संशयवाद है–इसका भी निराकरण पूर्वमीमांसा ने सबल शब्दों में किया–

वस्त्वनेकत्ववादाच्च सन्दिग्धाप्रमाणता।
ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता।
इहानेकान्तिकं वस्तु इत्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम्।

(मीमांसाश्लोकवार्तिक, वनवाद 75-78)

वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने यह प्रश्न अपनी भाष्यभूमिका में बहुत विस्तार से उठाया है कि वेद में परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित करना भाष्यकार का दायित्व है। कहीं **'एक एव रुद्रः'** (तैत्तिरीय संहिता 1.8.61) कह दिया गया है तो कहीं **'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्'** (यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, 16.54) कहा गया है। यह प्रश्न यास्काचार्य ने निरुक्त में भी उठाया और जैमिनी ने भी उठाया। संक्षेप में हम महर्षि अरविन्द के शब्दों में कह सकते हैं **'जीवन की सभी समस्याएं तत्त्वतः सामञ्जस्य की समस्याएं हैं'** (दिव्य जीवन, पृ. 4) जैन आचार्यो ने इस सामञ्जस्य को स्थापित करने का प्रयत्न अनेकान्तवाद के माध्यम से किया किन्तु यह प्रयत्न अन्य दर्शनों में भी अनेकान्त के माध्यम से किया गया। यही अनेकान्त की व्यापकता है। इस लेख में हमने अपने को भारतीय दर्शनों तक सीमित रखा है किन्तु यदि अन्य दर्शनों में भी देखें तो अनेकान्त के बीज मिलेंगे।

जैनेतर ग्रन्थों में अनेकान्त के समर्थन हेतु तुलनीय हैं निम्न ग्रन्थः–

1. महाभाष्य, पस्पशाह्निक पृ. 84-85
2. योगसूत्र, व्यासभाष्य पृ. 13
3. वात्स्यायन, न्यायसूत्र 1.1.41
4. शांकरभाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद् 2.6.3
5. शास्त्रदीपिका, पृ. 101

जम्हा ण णएण विणा, होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती।
तम्हा सो बोहव्वो, एयंतं हंतुकामेण।।
—समणसुत्तं, गाथा 691

नय के बिना मनुष्य को स्याद्वाद का बोध नहीं होता। अतः जो एकान्त का या एकान्त आग्रह का परिहार करना चाहता है, उसे नय को अवश्य जानना चाहिए।

अनेकान्तवाद का स्वरूप और उसके तार्किक आधार

–प्रो. धर्मचन्द जैन*

भारतीय दर्शन में सत् एवं वस्तु पर्यायार्थक हैं। सभी दर्शन सत् का अपनी-अपनी दृष्टि से विवेचन करते हैं। स्वरूपतः सत् तो जैसा है, वैसा है। हमारे जानने की दृष्टि एवं कहने की प्रक्रिया में ही भेद है, इसलिए उस सत् या वस्तु की व्याख्या विभिन्न दर्शन भिन्न-भिन्न रीति से करते हैं। यह तथ्य वेद में ''एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति'' वाक्य से अभिव्यक्त हुआ है। अब किस दृष्टि को सम्यक् कहें एवं किसे मिथ्या? यह कठिन प्रश्न खड़ा होता है। अतः सभी दर्शन अपनी दृष्टि से किए गए विवेचन को सम्यक् एवं दूसरे दर्शन के विवेचन को दोषपूर्ण ठहराते हैं। वे यदि अनेकान्त की व्यापकदृष्टि को स्वीकार करें तो अन्य दर्शनों की विवेचना में भी किसी नय से सत्यता जानी जा सकती है। यह कार्य जैन दार्शनिकों ने किया है। वे किसी नय से अन्य दर्शनों में भी सत्यता की अन्वेषणा करते हैं तथा समग्रदृष्टि से जब विचार करते हैं तो उसमें रही हुई एकान्तदृष्टि में कमियों को भी उजागर करते हैं।

जैनदर्शन वस्तु को अनेकधर्मात्मक एवं अनन्तधर्मात्मक स्वीकार करता है। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक की दृष्टि से वह उसे त्रयात्मक भी मानता है। वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक स्वीकार करने के कारण वह उसमें नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाप्य-अनभिलाप्य, भाव-अभाव आदि विरोधी धर्मों को भी अंगीकार करता है। विरोधी धर्मों के समन्वय के लिए जैन दार्शनिकों के पास द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों की

---

* संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

दृष्टि है, जिससे दार्शनिक स्तर पर समाधान प्राप्त होता है। तथा व्यवहार जगत् में भी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। सत् को मात्र नित्य मानने वाले वेदान्तदर्शन तथा सत् को मात्र क्षणिक मानने वाले बौद्धदर्शन को संव्यवहार सत्य की विवेचना अलग से करनी पड़ती है, किन्तु अनेकान्तवाद में वस्तु को द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से नित्य एवं पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य मानने वाले जैन दर्शन को व्यावहारिक जगत् में कोई बाधा नहीं आती है। अनेकान्तवाद व्यवहार एवं परमार्थ दोनों की व्याख्या कर देता है। वह वस्तु की नित्यता एवं अनित्यता दोनों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विवेचित करता है।

वस्तु की अनेकधर्मात्मकता

वस्तु अनेकधर्मात्मक है- यह जैन दर्शन की मान्यता के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इसका अस्तित्व भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में उपलब्ध है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति को सत्त्वरजस्तमो गुणात्मिका अर्थात् त्रिगुणात्मिका कहा गया है। मीमांसादर्शन में 'तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्' (मीमांसाश्लोक वार्तिक, वनवाद 22) वाक्य के द्वारा वस्तु की त्रयात्मकता अंगीकार की गई है, जो जैनदार्शनिक समन्तभद्र के वाक्य ''तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम'' से पूरा मेल खाती है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में प्रतिपादित 'अपर सामान्य' में पृथिवीत्व घटत्व आदि ऐसे उदाहरण हैं जिनमें सामान्य एवं विशेष (भेद) दोनों पाये जाते हैं। बौद्धदर्शन के द्वारा मान्य सत् में क्षणिकत्व, अर्थक्रियाकारित्व, प्रतीत्यसमुत्पादात्व आदि अनेक ध र्म पाये जाते हैं। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के लक्षण का प्रतिपादन करते हुए उसे सत् चिद् एवं आनन्दमय प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म भी अनेक धर्मात्मक है।

इस प्रकार वस्तु की अनेकधर्मात्मकता प्राय: सभी दर्शनों को मान्य है। अनेकधर्मात्मकता ही अनेकान्तात्मकता है। 'अनेकान्त' में 'अन्त' शब्द धर्म का वाचक है। जो सिद्धान्त वस्त में अनेक धर्मों को

स्वीकार करता है वह अनेकान्तवाद है। इस दृष्टि से प्राय: सभी दर्शन अनेकान्तवादी हैं।

अनेकान्तवाद और अनैकान्तिक हेत्वाभास में भेद

अनेकान्तवाद में रहे 'अनेकान्त' का साम्य कुछ विद्वान् 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' शब्द से करने लगते हैं, किन्तु यह उसकी भूल है। अनैकान्तिक हेत्वाभास दो स्थितियों में होते हैं–जब हेतु पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में रहे तो उसे साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है, जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होने से, व्योम की तरह। यहाँ प्रमेयत्व हेतु सपक्ष नित्य एवं विपक्ष अनित्य दोनों में रहता है अत: अनैकान्तिक है। जो सपक्ष एवं विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर पक्ष में ही रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। उदाहरणार्थ– 'पृथ्वी नित्य है, गन्ध वती होने से। गन्धवतिव हेतु मात्र पृथ्वी में रहता है उसका कोई सपक्ष एवं विपक्ष नहीं है। यहां पर अवधारणीय है कि अनेकान्तवाद वस्तु के स्वरूप का नियामक सिद्धान्त है। यह वस्तु में रही नित्यता एवं अनित्यता दोनों को द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों से स्पष्ट कराता है। इसके अनुसार प्रमेयमात्र नित्यानित्य है। इसकी समानता केवलान्वयी हेतु से समझी जा सकती है, जिसमें विपक्ष होता ही नहीं है।

वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता एवं त्रयात्मकता

यहाँ ध्यातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने वस्तु में अनेकधर्मात्मकता ही नहीं अनन्तधर्मात्मकता भी स्वीकार की है। हेमचन्द्राचार्य अन्ययोगच्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में कहते हैं–

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतो- ऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।[1]

मल्लिषेण ने वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता त्रिकालविषयत्व के कारण स्वीकार की है–"अनन्तत्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्मा: सहभाविन: क्रमभाविनश्च पर्याया:। त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्त–

---

1. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, 22

धर्मात्मकम्''[2] अर्थात् त्रिकाल को विषय करने के कारण सहभवी धर्म और क्रमभवी पर्याय वाली वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है।

आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने 'घटमौलिसुवर्णार्थी' एवं 'पयोव्रतो न दध्यत्ति' कारिकाओं के माध्यम से वस्तु को त्रयात्मक कहा (तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्) तो प्रश्न उठा कि वस्तु के त्रयात्मक होने पर उसमें अनन्तात्मकता कैसे सिद्ध होगी? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य विद्यानन्द ने इन कारिकाओं पर टीका करते हुए अष्टसहस्री में पररूप से व्यावृत्ति के आधार पर दिया है। वे कहते हैं-परपदार्थों के स्वरूप से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वभाव है। परपदार्थ अनन्त हैं, अतः वस्तु का स्वभाव अनन्तधर्मात्मक सिद्ध है–''न चैवनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येक-मुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविनश्यतिष्ठद्भ्यः कालत्रयीपेक्षेभ्योऽर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोऽनन्तभेदोपपत्तेः पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावसाधनात्, तदस्तुस्वभावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात्'' अर्थात् वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में इससे कोई विरोध नहीं आता। प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के कारण उत्पन्न होती हुई, विनाश को प्राप्त होती हुई एवं ध्रुव रहती हुई कालत्रय अपेक्षा से भिन्न-भिन्न है तथापि विवक्षित वस्तु में परमार्थतः अनन्तभेद उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि स्वरूप से व्यावृत्ति भी वस्तु के स्वभाव को सिद्ध करती है। यदि उसे वस्तु का स्वभाव न माना जाए तो समस्त अर्थों के स्वरूप में संकरता का दोष आ जाएगा।

वस्तु की अनेकधर्मात्मकता और अनन्तधर्मात्मकता अनेकान्तवाद के आधार रहे हैं। अनेकान्तवाद कोई वाद नहीं, अपितु एक दर्शन है जो वस्तु की विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन करता है। आर्षवाक्य-'उप्पनेइ वा विगमेइ वा धुवेउ वा' के आधार पर वाचकमुख्य उमास्वाति ने वस्तु को उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक प्रतिपादित किया–उत्पाद्व्ययध्रौव्यात्मकं सत्। इसी के आधार पर समन्तभद्र ने उसे त्रयात्मक सिद्ध किया–

---

2. स्याद्वादमञ्जरी, 22

''घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्।।''[3]

द्रव्यपर्यायात्मकता

सिद्धसेन दिवाकर ने ध्रौव्य को द्रव्य एवं उत्पादव्यय को पर्याय मानकर वस्तु का द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप से वर्णन किया है। वे पर्याय से रहित द्रव्य एवं द्रव्य से रहित पर्याय की संभावना का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं–

पज्जयविजुयं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जवा नत्थि।
दव्वं पज्जयविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि।।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय प्रतिपादित किया है–

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु।

द्रव्य की व्युत्पत्ति करते हुए प्रमाणमीमांसा 1.1.30 स्वोपज्ञवृत्ति में हेमचन्द्र ने कहा है-'द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम्'। इसे वे ऊर्ध्वतासामान्य भी कहते हैं–पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्य प्रत्यय समधिगम्यमूर्ध्वतासामान्यमिति यावत्।।' पर्याय की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-''परियन्त्युत्पादविनाशधर्म्मणो भवन्तीति पर्याया विवर्ता:'' जो उत्पाद-विनाश धर्म वाले हैं वे पर्याय हैं।

विरोधी धर्मों का समन्वय

वस्तु के द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप के आधार पर ही उसे नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक, सामान्यविशेषात्मक आदि भी कहा गया है। द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु में नित्यता, एकता, अभेदता एवं सामान्य पाया जाता है तथा पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य, अनेक, भिन्न एवं विशेष होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में वस्तु को

---

3. आप्तमीमांसा, 59
4. सन्मतितर्क 1.12

विरोधी गुणों या धर्मों से भी युक्त स्वीकार किया गया है। अनेकान्तदृष्टि वस्तु में इन विरोधी गुणों को स्वीकार करके भी विरोध का परिहार कर देती है, यह इस दृष्टि का वैशिष्ट्य है।

अनेकान्तवाद जैनेदर्शन का सिद्धान्त

पूर्व चर्चा के अनुसार अनन्तधर्मात्मकता अन्य दर्शनों को भी मान्य है किन्तु अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त बन गया। इसके कारण हो सकते हैं। पण्डित सुखलाल जी के शब्दों में 'सामान्य रूप से दार्शनिक क्षेत्र में यह मान्यता रूढ़ है कि जैन दर्शन ही अनेकान्तवादी है, अतएव जैसे जैनेतर दार्शनिक अपने दर्शनों में लभ्य अनेकान्त विचार की ओर दृष्टि दिए बिना ही अनेकान्त को मात्र जैनवाद समझकर उसका खण्डन करते हैं वैसे ही जैनाचार्य भी उस वाद को सिर्फ अपना ही मानकर उस खण्डन का पूरे जोर से जवाब देते हुए अनेकान्त का विविध रूप से स्थापन करते आए हैं, जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य में नय, सप्तभंगी, निक्षेप, अनेकान्त आदि की समर्थक एक बड़ी स्वतन्त्र ग्रन्थराशि बन गई है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि जब एकान्तवाद का प्राबल्य हुआ तब जैन दार्शनिकों ने तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को आधार बनाने के कारण जैन दर्शन का यह प्रमुख सिद्धान्त बना तथा अन्य दर्शन अपने यहाँ किसी रूप में स्वीकृत होने पर भी जैनों का खण्डन करने लगे। धर्मकीर्ति,[7] शंकराचार्य,[8] शान्तरक्षित[9], अर्चट[10], आदि इसके उदाहरण हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में अनेकान्तवाद का निरसन करने का प्रयास किया है जिसका उत्तर अकलंक, विद्यानन्द आदि जैनाचार्यों ने अपनी कृतियों में दिया है।

---

5. प्रमाणमीमांसा, 1.1.30
6. प्रमाणमीमांसा, भाषा टिप्पण, पं. सुखलाल संघवी, पृ. 64
7. प्रमाणवार्तिक 3.181-183
8. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
9. तत्त्वसंग्रह, 1709-1784
10. हेतुबिन्दु टीका

अनेकान्तवाद की स्थापना का आधार

जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की स्थापना का आधार मूलतः जैन आगमों को ही बनाया है। लोक शाश्वत है या अशाश्वत? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा–लोक स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत है। त्रिकाल में एक भी समय नहीं मिल सकता जब लोग न हो, अतः लोक शाश्वत है परन्तु लोक सदा एक सा नहीं रहता कालक्रम से उसमें उन्नति, अवनति होती रहती है, अतः वह अनित्य और परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत भी है।[11] इसी प्रकार लोक सान्त है या अनन्त? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने परिव्राजक स्कन्धक से कहा– द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है और सान्त है, क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात कोटाकोटि योजन लम्बा-चौड़ा और असंख्यात् कोटाकोटि योजन परिधि वाला है, अतः सान्त है। काल की दृष्टि से ऐसा कोई काल नहीं जब लोक न हो, अतः लोक अनन्त है। भव से यह लोक अनन्त वर्ण-पर्याय वाला, अनन्त गन्धपर्यायवाला, अनन्त रस पर्यायवाला, अनन्त संख्या युक्त, अनन्त गुरुलघुपर्याययुक्त एवं अन्त अगुरुलघुपर्यायुक्त है। अतः भव की दृष्टि से इसका कोई अन्त नहीं।[12] इस प्रकार भगवान महावीर के अनुसार द्रव्य से एवं क्षेत्र से लोक सान्त है तथा काल एवं भाव से अनन्त है। इस तरह अनेकान्तदृष्टि से परिपूर्ण अनेक उदाहरण आगमों में उपलब्ध हैं।

अनेकान्तवाद का स्थापन

जैनाचार्य जन्म से ब्राह्मण पण्डित रहे अतः अन्य दर्शनों का पाण्डित्य उन्हें प्राप्त था, फिर आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने अनेकान्तवाद की स्थापना में पूरी शक्ति लगायी। जैन दार्शिनिकों ने एकान्त क्षणभंगवादी बौद्धों, एकान्तनित्यवादी वेदान्तियों एवं नित्य व अनित्य को स्वतन्त्र मानने वाले न्याय-वैशेषिकों का खण्डन करते हुए अनेकान्तवाद का सबल प्रतिष्ठापन किया।

---

11. भगवती सूत्र 9,33
12. भगवती सूत्र शतक 2

इस दृष्टि से जैन दार्शनिक सिद्धसेन (पांचवीं शती), समन्तभद्र (पाँचवीं शती) मल्लवादी (पांचवीं शती) हरिभद्रसूरि (700-770 ई.) अकलंक (720-780 ई) विद्यानन्द (775-440 ई), अभयदेव सूरि (10वीं शती), प्रभाचन्द्र (980-1065 अ.) वादिदेवसूरि (1086-1169 ई.) हेमचन्द्र (1088-1173 ई.) यशोविजय (17वीं शती) विमलदास आदि का योगदान उल्लेखनीय है।

अनेकान्तवाद की सिद्धि में प्रमुख तर्क :

दीपक से लेकर आकाश तक सभी वस्तुएँ समान स्वभावाली हैं। कोई भी वस्तु स्याद्वाद सिद्धान्त (अनेकान्तवाद) का उल्लंघन नहीं करती। उस वस्तु को कोई मात्र नित्य अथवा मात्र अनित्य कहते हैं, तो यह उचित नहीं है। दीपक की लौ अनित्य हैं यह तो सर्वविदित है किन्तु दीपक में प्रकाश के पुद्गल दीपक बुझने पर अन्धकार में परणित हो जाते हैं, जो पुद्गल की अपेक्षा से नित्य कहलाते हैं। इसी प्रकार व्योम को सब नित्य मानते हैं किन्तु व्योम में जिन द्रव्यों का अवगाहन होता हे। उनके स्थान परिवर्तन से आकाश की भी पर्याय बदल जाती है। इस दृष्टि से अकाश अनित्य भी सिद्ध होता होता है। दीपक से लेकर आकाश तक पदार्थों को नित्यानित्य कहने से संसार का कोई पदार्थ नहीं छूटा है, सबमें नित्यानित्यता सिद्ध हो जाती है।

जैन दार्शनिकों ने वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है 'वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षण द्रव्यषट्कम्।' जिसमें गुण एवं पर्याय रहते हैं वह वस्तु है। जैनदर्शन में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, काल एवं जीवास्तिकाय-इन छह द्रव्यों को वस्तु कहा गया है। इन छहों द्रव्यों में अपने-अपने गुण सहभावी रूप से रहते हैं। तथा पर्याय क्रमभावी रूप से उत्पन्न एवं नष्ट होती रहती है। इस दृष्टि से सभी द्रव्य नित्यानित्यात्मक हैं, द्रव्यपर्यायात्मक हैं, सामान्य-विशेषात्मक हैं। द्रव्य में अभेद एवं पर्यायों में भेद होने से उसे भेदाभेदात्मक भी कहते हैं। द्रव्य की वाच्य एवं प्रतिक्षण बदलने वाली पर्याय के लिए पृथक् पृथक् शब्दों का अभाव

होने से उसको अवाच्य कहने से वस्तु को वाच्यावाच्यात्मक भी कह सकते हैं।

जैन आचार्यो के द्वारा अनेकान्तवाद के स्थापन एवं एकान्तवाद के खण्ड़न में प्रस्तुत कतिपय तर्क इस प्रकार हैं–

प्रथम तर्क– अनेकान्तात्मक वस्तु में ही अर्थक्रियाकारित्व सम्भव है, एकान्त नित्य एवं एकान्त क्षणिक वस्तु में अर्थक्रिया घटित नहीं होती। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक या नित्यानित्यात्मक (अनेकान्तात्मक) वस्तु में अर्थक्रिया घटित हो जाती है और अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण मानी गई है। भट्ट अकलंक ने इस प्रकार का तर्क अपने ग्रन्थ 'लघीयस्त्रय' में दिया है–

अर्थक्रिया न युज्येत्, नित्यक्षणिकपक्षयोः।

क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा हि लक्षणतया मता।।[15]

नित्य एवं क्षणिक पक्ष में न तो क्रम से अर्थक्रिया घटित हो सकती है और न अक्रम से। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व सर्वप्रथम बौद्धों ने दिया है। वे वस्तु को स्वलक्षण भी कहते हैं। दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने वस्तु का लक्षण देते हुए कहा है–तत्र यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति।[16] धर्मकीर्ति ने कहा है-अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः।[17] अर्थक्रिया को वस्तु का लक्षण मानकर बौद्धों ने नित्यत्व का खण्डन किया है और अर्थक्रिया का घटित नहीं होना सिद्ध किया है। जयन्त ने क्षणिक स्वलक्षण में अर्थक्रियाकारित्व का खण्डन किया है, किन्तु भट्ट अकलंक आदि दार्शनिकों ने नित्यवाद एवं क्षणिकवाद दोनों में ही वस्तु

---

13. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, 25
14. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, 5
15. लघीयस्त्रय 2.1
16. प्रमाणसमुच्चय टीका, मैसूर पृ.6
17. न्यायबिन्दु 1.15

के अर्थक्रियाकारित्व का खण्डन करते हुए उसे अनेकान्तात्मक वस्तु में सिद्ध किया है। वस्तु को नित्य मानने पर उसमें न क्रम से अर्थक्रिया संभव है और न युगपद् क्योंकि क्रम से अर्थक्रिया करने पर उसकी नित्यता भंग हो जाती है तथा युगपद् अर्थक्रिया करने पर अगले क्षण वह अकिञ्चित्कर हो जाती है, उसी प्रकार अर्थ को क्षणिक मानने पर उसमें क्रम से अर्थक्रिया संभव नहीं है, क्योंकि क्षणिक अर्थ में अनेक वस्तुओं को उत्पन्न करने के नाना स्वभाव नहीं हो सकते।

'प्रमाणमीमांसा' में हेमचन्द्र ने द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को ही अर्थक्रिया में समर्थ स्वीकार करते हुए क्षणिक एवं नित्यपक्ष में अर्थक्रिया घटित न होने का विस्तार से निरूपण किया है। उन्होंने सामान्य एवं विशेष को पृथक् पदार्थ मानने वाले वैशेषिकों का भी प्रबलरूपेण तर्कपुरस्सर खण्डन किया है। जैन दर्शन में मान्य सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में अर्थक्रिया किस प्रकार घटित होती है, इस संबंध में माणिक्यनन्दि,[18] वादिदेवसूरि[19] एवं हेमचन्द्र[20] ने मार्ग प्रशस्त किया है। वे कहते हैं-

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः।[21]

अर्थात् पूर्वपर्याय के परिहार, उत्तर पर्याय के स्वीकार तथा द्रव्य रूप में स्थिति आदि परिणामों से अर्थक्रिया की उपपत्ति हो जाती है।

द्वितीय तर्क– एकान्त नित्यवाद एवं एकान्त अनित्यवाद में कृतनाश एवं अकृत-अभ्यागम दोष आते हैं जबकि नित्यानित्यवाद (परिणामिनित्यवाद) में व्यवस्था बन जाती है। अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में क्षणिकवाद का खण्डन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने उसमें कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, भवभंग, प्रमोक्षभंग और स्मृतिभंग दोष निरूपित किए हैं–

---

18. परीक्षामुख 4.2
19. स्याद्वादरत्नाकर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली पृ. 726
20. प्रमाणमीमांसा 1.1.33
21. प्रमाणमीमांसा 1.1.33

कृतप्रणाशाकृतकर्म-भोग-भव-प्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्नहो! महासाहसिकः परस्ते॥[22]

बौद्ध दर्शन में वस्तु का प्रतिक्षण निरन्वय विनाश माना जाता है। अतः उसमें किए हुए का फल नहीं मिलने की स्थिति उत्पन्न होती है। बौद्धमत में जिस ज्ञान क्षण में सत् कार्य या असत् कार्य किया जाता है उस क्षण का निरन्वय (पूर्ण) विनाश स्वीकार करने से उसके फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार नहीं किए गए या दूसरे के द्वारा किए गए कर्म के फल की प्राप्ति होने की भी स्थिति बनती है। जब कर्मफल की परम्परा ही सम्यग् रूपेण नहीं चलेगी तो पुनर्जन्म एवं मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। उनके मत में आत्मा ही नहीं है तो किसका मोक्ष होगा क्षणिकवाद में स्मृति की व्यवस्था तो बन ही नहीं सकती, क्योंकि लोक में किसी अन्य के द्वारा देखा गया पदार्थ किसी दूसरे को याद नहीं होता, इसी प्रकार एक क्षण का सम्पूर्ण विनाश होने पर अन्य क्षण में स्मृति कैसे रहेगी?

इसी प्रकार क्षणिकवाद में कर्ता एवं भोक्ता की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि ज्ञानक्षण सन्तान में भिन्नता के कारण कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कर्ता भिन्न एवं भोक्ता भिन्न होगा। एकान्त नित्यवाद में भी कर्त्ता एवं भोक्ता की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ कर्ता सदैव कर्त्ता ही रहेगा, भोक्ता नहीं हो सकता और भोक्ता सदैव भोक्ता ही रहेगा, कर्त्ता नहीं हो सकता।

द्रव्यपर्यायात्मक एवं नित्यानित्यात्मक वस्तु और आत्मा में ये दोष नहीं आते हैं। वहां पर द्रव्य की दृष्टि से एकत्व भी बना रहता है तथा पर्याय की दृष्टि से फलभोग आदि भी प्राप्त होते रहते हैं।

तृतीय तर्क– स्वरूपत वस्तुः अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह हमें वैसी ही अनुभव में आती है। भट्ट अकलंक ने सिद्धिविनिश्चय में यह तर्क देते हुए कहा है–

---

22. अन्ययोगव्यवच्छेद, 18

न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम्।
जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्तहेतवः।।[23]

कहीं भी मात्र सामान्य एवं मात्र विशेष वस्तु दिखाई नहीं देती है, सर्वत्र जात्यन्तर सामान्यविशेषात्मक वस्तु दृष्टिगोचर होती है, इसलिए वस्तु अनेकान्तात्मक है। हमें भेदाभेदात्मक रूप में ही किसी अर्थ का ज्ञान होता है, द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ का ही बुद्धि में प्रतिभास होता है–

द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात्।।[24]

चतुर्थ तर्क– अनेकान्तात्मक वस्तु में ही प्रमाणप्रमेय व्यवहार– अनेकान्तात्मक वस्तु में ही प्रमाण–प्रमेय। व्यवहार सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता। अनेकान्तजयपताका में ऐसा हरिभद्रसूरि स्पष्टतः कथन करते हैं अतोऽनेकान्तात्मक एव वस्तुतत्त्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहार सिद्धिरुक्तव्यत् सकलदोषविहादिति। हरिभद्रसूरि ने सभी एकान्तवादों का निरसन करने के पश्चात् यह कथन किया है। हेमचन्द्रसूरि भी 'प्रमाणमीमांसा' में कहते हैं–द्रव्यपर्यायात्मकः प्रमाणविषयः प्रमाणविषयत्वान्यथानुपपत्तेः। न हि प्रत्यक्षतः स्वलक्षणं पर्यायमात्रं सन्मात्रं सन्मात्रमिवोपलभामहे। नाप्यनुमानादेः सामान्यं द्रव्यमात्रं सामान्य–विशेषात्मनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यन्तरस्योपलब्धेः प्रवर्तमानस्य च तत्प्राप्तेः अन्यथाऽर्थक्रियानुपपत्तेः।[26]

प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु होती है, क्योंकि उससे भिन्न प्रमाण का विषय सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षतः स्वलक्षण या पर्यायमात्र वस्तु उपलब्ध नहीं होती है, अनुमानादि प्रमाणों से विशेष की भांति सामान्य या द्रव्यमात्र वस्तु का बोध नहीं होता है, क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक अथवा जात्यन्तर स्वरूप में ही

---

23. सिद्धिविनिश्चय, 2.12
24. लघीयस्त्रयवृत्ति 7, अकलंकग्रन्थत्रय पृ. 3-4
25. अनेकान्तजयपताका, भाग 2, 236
26. प्रमाणपरीक्षा पृ. 65

उपलब्ध होती है। प्रवर्तमान व्यक्ति को उसी की प्राप्ति होती है अन्यथा स्वरूप वाली वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है।

पञ्चम तर्क– सर्वथाएकान्तवाद में दृष्ट का अभाव–समन्तभद्र सर्वथा एकान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सर्वथा एकान्त का नियामक दृष्टान्त ही नहीं बनता है, दृष्टान्त बनने पर द्वैत या अनेकान्त की सिद्धि होती है–

दृष्टांतसिद्धावुभयोर्विवादे, साध्यं प्रसिद्ध्येन्न च तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामि दृष्टं, त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे।।

यदि कोई भी वस्तु मिल जाए जो दृष्टान्त बनकर सर्वथैकान्त के अस्तित्व को सिद्ध कर दे तो सर्वथैकान्त रूप साध्य की सिद्धि हो सकती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है, जो सर्वथैकान्त की नियामक हो अर्थात् जो दृष्टान्त बनकर सर्वथैकान्त की सिद्धि कर सके। अनेकान्तदृष्टि साध्य, साधन और दृष्टान्त सबमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया है।

षष्ठ तर्क– क्रिया–कारकादि का व्यवहार अनेकान्तवाद में ही सम्भव– समस्त क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों की सिद्धि अनेकान्तवाद में ही होती है, अन्य मतों में नहीं– यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः।[28] क्षणिकवाद एवं नित्यैकान्त में वस्तु की उत्पत्ति एवं कारकों का अन्वय सिद्ध नहीं होता।

सप्तम तर्क अनेकान्तवाद में ही कारण–कार्य–व्यवस्था– कारणकार्य का सिद्धान्त भी अनेकान्तवाद में ही घटित हो सकता है, क्योकि कारण एवं कार्य में न पूर्णतः एकाता होती है और न ही पूर्णतः भिन्नता। प्रो. सातकडि मुकर्जी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है–

The cause and the effect are not entirely identical, but different also. If the effect were entirely identical with the material cause,

27. स्वयम्भूस्तोत्र, 54
28. स्वयम्भूस्तोत्र, 21

there would be no occasion for the exercise of activity to bring it into existense. If it were different the manifestation would not relate to the effect. . , The effect is partially identical with the cause and different in other respects. This is the position maintained by Jaina and it has be shown to be inescapable.[29]

अष्टम तर्क– एकान्तवाद में कर्म-फल व्यवस्था नहीं- एकान्त नित्यवाद एवं एकान्त अनित्यवाद में सुख-दुःख के भोग, पुण्य-पाप और बन्ध मोक्ष की भी व्यवस्था नहीं बनती[30]–

न्याय-वैशेषिक मत में 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्' परिभाषा के अनुसार अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एकरूप वस्तु को नित्य माना गया है। नित्य आत्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती। नित्य आत्मा सुख का भोग या दुःख का उपभोग करने लगे तो अपने नित्य और एक स्वभाव को छोड़ने के कारण, आत्मा में स्वभावभेद होने से आत्मा को अनित्य मानना होगा। सुख पुण्य से एवं दुःख पाप से होते हैं, नित्य आत्मा में या तो पुण्य ही होगा या पाप ही। पुण्य-पाप से होने वाली अर्थक्रिया कूटस्थ नित्य आत्मा में नहीं हो सकती। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी एकान्त नित्यवाद में नहीं बन सकती। एकान्त नित्य मानने पर उसके साथ कर्मों का बन्ध नहीं हो सकता। यदि उसमें अनादि बन्ध माना जाता है तो मोक्ष नहीं हो सकता, अन्यथा नित्यता भंग हो जाएगी।

एकान्त अनित्यवाद में भी इसी प्रकार सुख-दुःख के भोग, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है–

पुण्यपापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः।।

---

29. The jaina philosophy of Non absolutism, pp. 36-37
30. अन्ययोगव्यवच्छेद, 27

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्।।[31]

आचार्य समन्तभद्र ने क्षणिकैकान्त एवं नित्यैकान्त पक्षों में परलोक-गमन भी असम्भव बताया है, क्योंकि नित्यैकान्त में परलोकगमन स्वीकार करने पर नित्यैकान्त ही बाधित हो जाता है तथा क्षणिकैकान्त में भी यह सम्भव नहीं है, क्योंकि क्षणिक का तो प्रतिक्षण पूर्णतः विनाश हो जाता है।

नवम तर्क– अनेकान्तवाद से ही स्मृति आदि का व्यवहार– एकान्तवाद में स्मृति एवं प्रात्यभिज्ञान का प्रामाण्य नहीं बनता और इनके अभाव में व्याप्ति का ग्राण न होने से अनुमान प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। नित्यानित्यात्मक या सामान्यविशेषात्मक वस्तु में ही स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य शक्य है। इनके प्रामाण्य को संव्यवहार से स्वीकार किए बिना अनुमान का भी प्रामाण्य सम्भव नहीं। इसलिए वस्तु को अनेकान्तात्मक मानना आवश्यक है। वेदान्ती एवं बौद्ध दोनों ही अनुमान को संव्यवहार से प्रमाण मानते हैं, उनके यहाँ इसका इसीलिए पारमार्थिक प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है।

दशम तर्क– व्यवहार की निष्पत्ति अनेकान्तवाद से ही–सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्तवाद एवं नयवाद की स्थापना में पुरुषार्थ किया। उनका कथन है कि अनेकान्त को स्वीकार किए बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्यस भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।[32]

भुवन के एकमात्र गुरु उस अनेकान्त को नमस्कार है जिसके बिना लोक का व्यवहार भी नहीं चल सकता। विमलदास ने सप्तभंगीतरंगिणी में कहा है कि अनेकान्तवाद ही युक्ति तथा अनुभव रूप कसौटी पर खरा

---

31. आप्तमीमांसा, 4.-41
32. सन्मतितर्क, 69

ठहरता है, अतः वही निर्विवाद रूप से स्थिर है तथा अनन्तधर्मात्मक वस्तु स्वयं प्रमाण से प्रतिपन्न हैं- **अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः स्वयं प्रमाणप्रतिपन्नत्वेनाभ्युपगमात्।।**[33]

उपसंहार

जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद के स्थापन एवं एकान्तवाद के निरसन में जो तर्क दिए हैं वे अनुभव एवं व्यवहार को केन्द्र में रखकर दिए हैं। उनकी दृष्टि में जगत यथार्थ है एवं उसकी यथार्थता में अनेकान्तात्मकता ही मुख्य कारण है। जैनों की यह तत्त्वमीमांसीय अनेकान्तदृष्टि ही ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में भी आदृत हुई है। आज अनेकान्तदृष्टि को सम्यक् सोच का पर्याय समझा जा रहा है, जिससे कलह, तनाव आदि को दूर कर वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक समरसता का संचार किया जा सकता है। इस लेख में अनेकान्तवाद के कतिपय तार्किक आधारों का निरूपण किया गया है अन्वेषण करने पर अन्य आधार भी सामने आ सकते हैं। इन आधारों को समझने पर तथा द्रव्य पर्याय दृष्टियों को समझने पर वस्तु में रहने वाली ध्रुवता एवं उत्पादव्ययता को ठीक से समझा जा सकता है। फिर विरोध, संशय, व्यतिकर आदि दोषों की आपत्ति का स्वतः परिहार हो सकता है।

---

33. सप्तभङ्गीतरंगिणी, अगास, पृ. 89

वाचिक सहिष्णुता का सिद्धान्त 'स्याद्वाद'

प्रो. सुदीप जैन*

इस विश्व में यों तो **दो-इन्द्री** (द्वीन्द्रिय) जीवों से ही वचन-क्षमता मानी गई है, अर्थात् वे भी बोल सकते हैं। अत: बोल लेना – यह कोई बड़ी गौरवशाली उपलब्धि नहीं है। महत्त्व तो इस बात का है कि क्या बोला और कैसे बोला? जैनाचार्य न्यायग्रंथों में जैनसिद्धान्त का स्पष्ट विरोध करनेवाली बातों से 'पूर्वपक्ष' के रूप में कई पृष्ठ भर देते हैं, और उसके अन्त में "इति केचित्" कहकर उन बातों से अपना साफ पल्ला झाड़ लेते हैं कि ''यह तो अन्य कोई हैं, यह हमारी मान्यता नहीं है।'' इससे सिद्ध होता है, कि वचनों की विषयवस्तु से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है वक्ता की वक्तृत्वशैली; उसी से वस्तु का निर्दोष एवं यथार्थ अवबोध होता है। अन्यथा तो सही विषय को भी गलत समझा जा सकता है और उसका अनर्थकारी प्रभाव भी हो सकता है। 'राम' का नाम यथार्थ और सत्य है, किन्तु मांगलिक-प्रसंगों पर यदि 'राम नाम सत्य है' का घोष कर दिया जाये, तो वह लोकपरंपरा-विरुद्ध होने से आपके लिए नाई के खर्च की बचत भी करा सकता है।

लोक में कहावत है कि एक बार दाँतों और जीभ के बीच तकरार हो गयी। दाँतों ने अकड़कर कहा कि ''अरी जीभ! तू नाजुक-सी चीज है, ज्यादा इधर-उधर मत घूमा कर, नहीं तो हम बत्तीस हैं और वज्र-सदृश कठोर भी हैं; तुझे चबा डालेंगे।'' तो जीभ बोली-"दन्त महाशयो! इतना मत इतराइये, नहीं तो अभी किसी पहलवान को

---

* अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

तीखी-सी गाली दूँगी तो बत्तीसों आसनच्युत होकर धूलधूसरित नज़र आओगे।"

कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वाच्य-विषय एवं वाचनशैली – दोनों का यदि संतुलित एवं मर्यादित व्यवहार नहीं हो, तो वचनों का अनर्थकारी रूप भी हो सकता है; तथा यदि यही सुनियोजित एवं मर्यादित हो, तो वह पुष्पार्चन-योग्य भी बना सकता है। इसीलिए किसी की 'बोली गोली-सी' लगती है, तो किसी के वचनामृत 'मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं' प्रतीत होते हैं।

लोक में अनेक प्रकार के जीव हैं, उनकी विविध मान्यतायें हैं। और इसके भी महत्त्वपूर्ण कारण हैं। जहाँ वैयक्तिक समझ एवं योग्यता कारण हैं, वहीं वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता एवं संसारी प्राणों की सीमित समझ भी सर्वाधिक महनीय कारण हैं। अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को क्षुद्र क्षयोपशम वाला संसारी प्राणी पूर्णतः समझ नहीं पाता है, और अपनी सीमित समझ को ही कूपमंडूकवत् 'सर्वज्ञोऽहं' मानता हुआ ''यह ऐसा ही है'' के वचनप्रयोग से विवाद खड़ा करता है; जैसे कि छह अंधे हाथी के विभिन्न अंगों को टटोलते हुये हाथी को परस्पर-विरुद्ध नाना रूपों वाला प्रतिपादित करके परस्पर कलह उत्पन्न करते हैं। कदाचित् उनमें स्पर्शज्ञान के अतिरिक्त अन्यधर्म-अवलोकनी दृष्टि भी होती, तो ऐसी दुरवस्था नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि जिनकी दृष्टि व्यापक नहीं है तथा ज्ञान विशद नहीं है, तथा 'जितना मैंने देखा-जाना – वही सत्य है' का पूर्वाग्रह भी है; उन लोगों के वचन मात्र विसंवाद के ही निमित्त हो सकते हैं।

वस्तुतत्त्व के अनन्तधर्मों के प्रति अपार जिज्ञासा एवं विनयभाव के साथ-साथ यदि वाचिक-सहिष्णुता भी हो, तो व्यक्ति के वचन हित-मित-प्रिय हुये बिना नहीं रह सकते। इसी वचनशैली के सर्वोत्कृष्ट-स्वरूप की अभिव्यक्ति का नाम है 'स्याद्वाद', जो कि जैनदर्शन के स्तम्भ-चतुष्टय (अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह) में से अन्यतम है।

स्याद्वाद पद में दो शब्द हैं– 'स्यात्' एवं 'वाद'। इनमें से 'स्यात्' पद 'क्वचित्', 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा से' – इस अर्थ को सूचित करनेवाला 'निपात' है। तथा 'वदनं वादः' की व्युत्पत्ति के अनुसार 'वाद' शब्द का अर्थ है 'कथन' इस प्रकार समुच्चयरूप से 'स्याद्वाद' पद का अर्थ है 'एक ऐसी कथनपद्धति जिसमें विवक्षित-धर्म का कथन ता हो; किन्तु अन्य अवशिष्ट-धर्मों का निषेध न होकर उनकी निनम्र-स्वीकृति भी हो' अथवा 'जो कथन किया जा रहा है, वह सर्वथा न होकर किसी अपेक्षा-विशेष से ही है और उसे उसी मर्यादा में समझना चाहिये।'

आद्य शंकरचार्य 'स्यात्' पद की प्रयोगविधि को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुये लिखते हैं–

"सत्यत्वं एवं स्याद् यथा अर्थवादानां विधिशेषाणाम्।"
('गीता' का शांकरभाष्य, 18.66)

अर्थ - विधिवाक्य के अन्त में कहे जाने वाले 'अर्थवाद' वाक्यों की सत्यता 'स्यात् एव' से मानी जाती है, यथा- 'स्यात् पार्थः धनुर्धर एव'।

चूँकि शब्द की सामर्थ्य सीमित है तथा वस्तु का स्वरूप अनन्त-धर्मात्मक है, अतः वस्तु के पूर्णरूप को युगपत् कहने में शब्द सदैव असमर्थ रहते हैं। इसीलिए वस्तु को शब्दों के द्वारा 'अवक्तव्य' या 'अकथनीय' भी कहा गया है। इसी तथ्य को आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं–

"सहावाच्यादवक्तव्यः।"

किन्तु जैन यह 'अवक्तव्यत्व' भी मात्र यौगपद्य कथन मानते हैं, सर्वथा नहीं। इसीलिए 'स्यात् अवक्तव्य' के रूप में वे वस्तुतत्त्व का कथन करते हैं, जो निर्दोष है। 'सर्वथा अवक्तव्य' मानते ही वह वचन सदोष हो जाता है। वस्तु को वेदान्तदर्शन ने 'अनिर्वचनीय' तथा बौद्ध दार्शनिकों ने 'अव्याकृत' कहकर 'अवक्तव्य' माना है; किन्तु वहाँ

'स्यात्' पद का प्रयोग न होने से वे वचन पूर्णतः निर्दोष नहीं हैं।

इसी प्रकार नानाधर्मों का कथन करते समय वस्तु का 'स्याद्वाद' शैली से विवेचन करने की उक्तियाँ जैनग्रंथों में द्रष्टव्य हैं–

'कधमेक्कस्सेव जहण्णुक्कस्स-ववदेसो? ण एस दोसो। कणिट्ठो वि जेट्ठो वि एसो चेव मम पुत्तो त्ति लोगे ववहारुवलंभा।'

(आचार्य वीरसेन, धवला पु. 4, पृ. 424)

शंका– तो फिर एक को ही जघन्य और उत्कृष्ट का व्यपदेश कैसे किया?

समाधान - यह कोई दोष नहीं, क्योंकि कनिष्ठ भी और ज्येष्ठ भी 'यही हमारा पुत्र है' – इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है, इसलिए एक में भी जघन्य और उत्कृष्ट व्यपदेश हो सकता है।

एक में भी भेद-व्यवहार संभव है, यथा - 'देवदत्त का ज्ञान' इस वाक्य में देवदत्त और ज्ञान अभिन्न है तथा 'देवदत्त का धन' इसमें देवदत्त और धन – दोनों भिन्न पदार्थ हैं। इसीप्रकार का एक अन्य दृष्टान्त है–

'सिलापुत्तस्स सरीरमिच्चादिसु ऍक्कम्हि वि भेदववहारो।'

(आचार्य वीरसेन, धवला 4/1/5/2, पृ. 321)

अर्थ– 'शिलापुत्र (पाषाणमूर्ति) का शरीर' इत्यादि लोकोक्तियों में भी एक या अभिन्न में भी भेद-व्यवहार होता है।

सापेक्ष कथन, यथा– दूध का बर्तन, पानी का कलश, घी का घड़ा, मिट्टी का घर आदि बहुप्रचलित हैं।

'पितृपुत्रादि-संबन्ध एकस्मिन् पुरुषे यथा।
न ह्येकस्य पितृत्वेन सर्वेषां पिता भवेत्॥'

(आचार्य जटासिंहनन्दि, वरांगचरित्र, 26/87)

अर्थ- एक ही मनुष्य किसी का पुत्र होता है तथा दूसरों का पिता होता है, इसप्रकार एक ही पुरुष में पिता-पुत्रादि संबंध निर्विरोधतः संभव हैं।

काकः कृष्णः- प्राधान्यपद (धवलवण्ण बलयाए)

'बहुवण्णस्स जीवसरीरस्स कथमेक्का लेस्सा जुंजदे? ण, पाधाण्णपदमासेज्ज किसासणो कागो त्ति पंच-वण्णस्स कागस्स कसणववदेसोव्व एगवण्ण-ववहारविरोहाभावादो।'

(आचार्य वीरसेन, धवला 1, 1, 2, पृष्ठ 538)

शंका- बहुत वर्णवाले जीव के शरीर की एक लेश्या कैसे बन सकता है?

समाधान - नहीं, क्योंकि प्राधान्य पद का आश्रय कर 'काक कृष्ण है' इस प्रकार पांचों वर्णवाले काक को जिसप्रकार व्यवहार से 'कृष्णवर्ण' कहते हैं; उसीप्रकार प्रत्येक शरीर में द्रव्य से छहों लेश्याओं के होने पर भी एक वर्णवाली लेश्या व्यवहार करने में कोई विरोध नहीं आता है।

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्, बंध-मोक्षद्वयं तथा॥

(आप्तमीमांसा, 25)

अर्थ- अद्वैत-एकान्त में पुण्य और पाप- ये दो कर्म (शुभ-अशुभ), उनके दो फल इहलोक और परलोक ये दो लोक तथा विद्या और अविद्या ये दो ज्ञान एवं बंध और मोक्ष- ये दो तत्त्व नहीं बन सकते हैं।

'स्याद्वाद' शैली की इसी महनीयता एवं अनिवार्य-उपयोगिता को स्वीकार करते हुये जैनाचार्यों ने स्पष्ट घोषित किया कि यदि वचन में सत्य की पहिचान करना है, तो 'स्यात्' का प्रयोग अवश्य देख लेना चाहिये। **आचार्य समन्तभद्र** लिखते हैं–

"स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः।" (आप्तमीमांसा, 112)

वृत्ति- स्यात्कारः स्याद्‌वादः सत्यलाञ्छनः सत्यभूतोऽभिप्रेतः।

'स्याद्‌वाद' को 'प्रतिष्ठातिलक' (1/27) में 'अमोघ-वाक्य' भी कहा गया है–

"स्याद्‌वादामोघवाक्यम्"

इसीलिए विभिन्न-ग्रंथों के मंगलाचरणों में इष्टदेवता-स्मरण के साथ ही 'स्याद्‌वाद' का भी सादर स्मरण किया गया है–

"श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्‌वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्।।"

(जैन शिलालेख-संग्रह)

"धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्‌वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्येः स्वात्मोपलब्धये।।"

(आ. अकलंकदेव, लघीयस्त्रय, 1/1)

एक जगह तो 'स्याद्‌वाद' को जिनशासन का भेरीनाद भी कहा गया है। जैसे रणभेरी का नाद सुनकर कायरों का पलायन होता है, वैसे ही 'स्याद्‌वाद' का भेरीनाद सुनते ही मोह और अज्ञान का पलायन हो जाता है–

"यावत्स्याद्‌वादभेरी या जिनसैन्ये प्रगर्जति।
तावत्भंगं समायान्ति दर्शनान्याशु पञ्च वै।।"

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि स्याद्‌वादी-वचनपद्धति में 'स्यात्' पद का प्रयोग करके धर्मों का कथन तो होता है, परंतु क्या इसका कोई सुमर्यादित-विधान भी है? - इसका उत्तर देते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि एक धर्मयुगल के बारे में सात प्रकार की ही जिज्ञासायें संभव हैं, जिसके कारण उसके प्रश्न भी सात ही होते हैं और उत्तर भी सात होने से सात वाक्य 'स्यात्' पद-युक्त बनते हैं। इसे ही 'सप्तभंगी सिद्धान्त' कहते हैं।

इन सप्तभंग 'स्यात्' पदशोभित वाक्यों का 'अस्ति-नास्ति' धर्मयुगल पर प्रयोग करके निम्नानुसार दर्शाया गया है –

"स्यादस्ति स्वचतुष्टयादितरतः स्यान्नास्त्यपक्षमक्रमात्,
तत् स्यादस्ति च नास्ति चेति युगपत् सा स्यादवक्तव्यता।
तद्वत् स्यात् पृथगस्ति नास्ति युगपत् स्यादस्तिनास्त्याहिते,
वक्तव्ये गुणमुख्य-भावनियतः स्यात् सप्तभंगीविधिः॥"

(श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रम्, 10)

अर्थ– 1. स्यादस्ति, 2. स्यान्नास्ति, 3. स्यादस्तिनास्ति, 4. स्यादवक्तव्य, 5. स्यादस्त्यवक्तव्य, 6. स्यान्नास्त्यवक्तव्य और 7. स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य - ये सात भंग हैं। वक्तव्य में गौण और मुख्यभाव नियत करनेवाली यह सप्तभंग-विधि है।

इसकी सार्थकता बतलाते हुये आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं-

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥15॥

अर्थात् सभी पदार्थ किंचित सत् हैं। समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से 'सत्स्वरूप' हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षया 'असत्-स्वरूप' हैं। यदि ऐसा अपेक्षया स्वीकार न किया जाए, तो किसी इष्ट-तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती।

'सप्त' संख्या का भी अतिविशिष्ट-महत्त्व है। इसे पूर्णपीठ माना जाता है, लोक में भी 'सप्त' संख्यावाले अनेकों प्रयोग प्रचलित है, यथा- सप्ताह (सात दिन), सप्तपदी, सप्तसिन्धु, सप्तांगराज्य, सप्तव्यसनत्याग, सप्तस्वर, सप्तपरमस्थान, सप्तनरक, सप्ततत्त्व, सप्तविभक्ति-प्रत्यय आदि।

'सप्तभंगी' की सप्त संख्या का विशेष महत्त्व बतलाते हुये 'प्रतिष्ठातिलक' के कर्त्ता लिखते हैं–

स्याद्वादन्यायनायकः परमाप्तो तीर्थंकरवृषभनाथादिपरमभट्टारक-

जिनेश्वरश्रीचरणाम्बुजा ग्रे, सर्वाणि धान्यानि विमिश्रितानि।
अनंतधर्मेष्वपि संभवन्तीमर्हन्तु दिव्यध्वनि सप्तभंगीम्॥

(पं. नेमिचन्द्र, प्रतिष्ठातिलक, 10/3, 1/267)

भावार्थ–प्रतिष्ठा के समय केवलज्ञानकल्याणक की पूजा करनेवाला जो प्रतिष्ठाचार्य है, वह धान्यों को मिलाकर जिनेश्वर के श्रीचरणों में चढ़ाता है; उस पर श्री नेमिचंद्रजी (प्रतिष्ठतिलक-रचयिता) ने भव्यजीवों को शिक्षा देने के निमित्त यह हार्दिक अभिप्राय व्यक्त किया है कि जिस तरह से सप्तधान्य परस्पर में मिलकर कार्यकारी हैं, उसी प्रकार अनंत धर्मात्मक तत्त्वों को समझने के लिए तीर्थंकर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि (दिव्य) अर्थों की (जननकर्त्री) भी सप्तभंगात्मक (सहाद्यैव तत्संदेह-समुत्पादात्) ही खिरती है। तभी वह परस्पर में एक-दूसरे धर्म का समन्वय करती हुई विद्वज्जन-सेवनीय होती है।

वैदिक-वाङ्मय में भी सप्तविध-वचनों की स्वीकृति एवं महत्ता मानी गयी है-

'सप्तधा वै वागवदत्, सप्तविभक्तयः इति।'

(ऐतरेय ब्राह्मण, 7/7)

'स्याद्वाद-वर्त्मनि परात्मविचारसारे,
ज्ञानक्रियातिशय-वैभवभावनायां।
शब्दार्थ-संघटसीम्नि रसातिरेके,
व्युत्पत्तिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम्॥'

(आचार्य अमृतचन्द्र, लघुतत्त्वस्फोट, अन्तिम प्रशस्ति 2)

अर्थात् पर और आत्मा के विचारभूत स्याद्वादरूपी मार्गाग्रणी में और ज्ञान-चारित्र के अतिशय-वैभव की भावना में, व्युत्पत्ति (बोध) प्राप्त करने के इच्छुक-शिशुओं के लिये यह शब्द-अर्थ का सीमित रसातिरेक शब्द-समूह मात्र दिशा दिखलाता है, विशेष-अनुभव से ही प्राप्त होगा।

सुनयों से युक्त वाणी की महिमा एवं कामना के स्वर वैदिक-वाङ्मय में भी गुंजित है-

'आ नो गोत्रा दर्द्दहि गोपते गाः,
समस्मभ्यं सु-नयो यंतु वाजा।
देवक्षा अतिवृषभ सत्य शुष्माऽस्मभ्यं,
सु मघवन्बोधि गोदाः॥' (ऋग्वेद, 3/2/30/21)

हे पृथ्वी के पालक देव! हमें सुनय-सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और सत्य के कारण बलवान है! हे ऐश्वर्यवान् मघवन्! हमें बोधि प्रदान कर!

स्याद्वाद और विशिष्टाद्वैत

–प्रो. केदारप्रसाद परोहा*

भारतवर्ष सदा से एक दार्शनिक देश के रूप में प्रतिष्ठित है। दर्शन शास्त्र का विषय अनन्त के रूप में स्थापित रहा है, एक ही समय में अनेक द्रष्टाओं और ऋषियों के दर्शन ने असीम विषय को समझने का प्रयास किया है।

जैन दर्शन की चिन्तन शैली का नाम अनेकान्त दृष्टि एवं प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। इस दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त तीन हैं– 1 नयवाद 2 स्याद्वाद 3 अनेकान्तवाद। आगम युग में नयवाद प्रधान था, दार्शनिक युग में स्यादवाद व अनेकान्तवाद प्रमुख बन गये। आचार्य सिद्धसेन ने अनेकान्त की परिभाषा नयवाद के आधार पर की है।

जैनदर्शन में ज्ञान मीमांसा का विशद विवेचन है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों में विषय-विषयी भाव सम्बन्ध है। ज्ञान को पांच भागों में विभाजित किया गया है। 1. मतिज्ञान 2 श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4 मन:पर्ययज्ञान, 5 केवलज्ञान। इनमें मति और श्रुत ज्ञान इन्द्रियज्ञान है। शेष तीनों ज्ञान अतीन्द्रय है। मतिज्ञान में इन्द्रियों की भूमिका प्रमुख है, श्रुतज्ञान इन्द्रियज्ञान है, शेष तीनों ज्ञान अतीन्द्रय हैं। मतिज्ञान में इन्द्रियों की भूमिका प्रमुख है, श्रुत ज्ञान मानस ज्ञान है।

आगमयुग में स्यात् का प्रयोग श्रुत के साथ हुआ है। स्याद्वाद सप्तभङ्गीनय में सात भंग हैं– (1) स्यादस्ति (2) स्यान्नास्ति (3) स्यादस्ति नास्ति (4) स्यादवक्तव्य: (5) स्यादस्ति अवक्तव्य (6)

* विशिष्टद्वैतविभागाध्यक्ष, श्री.ला.ब.शा.रा.संस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली।

स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च, (7) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। ये सप्तभङ्गी नय जैन दर्शन की आधारशिलाएँ हैं।

जैन न्याय के विकास को मुख्यतः तीन भागों में निर्मापित किया है। (1) समन्तभद्रकाल (ई.200-650) (2) अकलंककाल (650-1050) (3) प्रभाचन्द्र काल (1050-1700)

(2) स्याद्वाद- स्याद्वाद का अर्थ अपेक्षासहित विशेष दृष्टिकोण से है। वाद का अर्थ सिद्धान्त या मत है। अभिप्राय यह हुआ कि इस प्रकार का सिद्धान्त जिसका गुण, धर्म, द्रव्यादिकों के समझने में स्थायित्व न हो वह प्रमाण नय में स्थिर रह सकता है।

किसी भी द्रव्य, वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्थायी सिद्धान्त की आवश्यकता होती है।

प्रश्न उठता है विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त क्या है- तो विशिष्टाद्वैत की ऐतिहासिक परम्परा अति प्राचीन है। वास्तव अन्तिम को विविध रूपों में स्थापित करने वाले आचार्यों की लम्बी परम्परा है। धर्म की रिक्तता एवं अभाव को नेतृत्व प्रदान किया। क्योंकि जैन बौद्ध धर्म तत्कालीन युग में सामाजिक एवं धार्मिक मनुष्यों के लिए प्रेरक शक्तियों के रूप में नहीं रह गये थे। बौद्ध धर्म के तान्त्रिक स्वरूप से विकसित अनेक विकृतियों ने जन जीवन को विषाक्त कर दिया था। धार्मिक स्तर पर समाज दो भागों में विभक्त हो गया था। उसी समय विशिष्टाद्वैत दर्शन ने ईश्वर से जिस संग्रह का प्रतिपादन किया, रामानुज वेदान्त कहलाता है। इसकी मुख्य रूप से दो परम्परायें हैं। इस सिद्धान्त की दोनों ही परम्परायें समृद्ध एवं शक्तिशाली हैं। समस्त आलवार उच्च को दिव्य कहा जाता है। उनके द्वारा प्रपत्ति एवं शरणागति सिद्धान्त का पूर्ण विकास हुआ है।

1 सरोयोगी 2 भूतयोगी 3 सहयोगी 4 भ्रन्ति योगी 5 भक्तिसर 6 मकर 7 वकुला मरण 8 कुल बार 9 सिगुणचित 10 गोरा 11 विप्रन्याराय 12 नीलक। इस सभी आलवर संतों का भक्ति पक्ष प्रखर था।

इस आचार्य परम्परा में तार्किक एवं धाार्मिक रूप को सुयवस्थित रख कर प्रस्तुत किया गया जिसमें आचार्य रामानुज का विशेष स्थान है।

1. विशिष्टरूप अद्वैतम् 2. विशिष्टस्य अद्वतम्।

प्रथम परिभाषा में ईश्वर चित् अचित् इन दोनों से विशिष्ट होता है। द्वितीय परिभाषा में जीव, जगत सूक्ष्म रूप से ईश्वर अपने में धारण कर लेता है। इसे कारणब्रह्म कहा जाता है।

उसी प्रकार दृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण कर स्थूल चिदचिद्विशिष्ट होकर ईश्वर कार्य ब्रह्म कहलाता है। यह विशिष्ट है। सिद्धान्त में तीन तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। चित्–जीव, अचित् प्रकृति एवं ईश्वर। ईश्वर एवं चित् में भाव सम्बन्ध है। चित् अचित् की सत्ता स्वीकार करने पर भी ईश्वर के एकत्व की एवं अक्रियत्व की हानि नहीं होती, क्योंकि भेद की दृष्टि से तत्त्व तीन हैं परन्तु अभेद विस्तार से तत्व एक ही है। ब्रह्म ही ईश्वर या नारायण है। श्रीभाष्य के नवाधिकरण में 8 सूत्र हैं। जिससे ईश्वर को विशिष्ट स्वरूप से समझा जा सकता है।

जगतकारण के रूप से प्रतिपादित ब्रह्म को सरलतापूर्वक जाना जा सके इसलिए अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय कोश के रूप में जीवात्मा को दर्शाया गया है। आनन्दमय ही आत्मा है। जीवात्मा ही ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है।

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्याद्वाद सिद्धान्त

–प्रो. महेशप्रसाद सिलोड़ी*

जैनदर्शन व्यवहार और निश्चय दो धर्मचक्रों पर आरूढ़ होकर दिग्दर्शन कराता है। वह स्यात् नास्ति अवक्तव्य इत्यादि अनेकान्त वस्तुधर्म का प्रतिपादन करता है। यह प्रतिपादन संसार के सविकल्प दृष्टिकोण से समीचीन है। अनेकान्तवाद भी स्याद् शब्द से मुद्रित है। अनेकान्तवाद स्याद्वाद वस्तु एवं तत्त्वज्ञान का यथार्थ निर्णायक है। अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के वाचिक विधान को स्याद्वाद कहते हैं।

स्यात् विधिपरक अव्यय है। जब वस्तु के अनेक धर्मों का कथन नहीं किया जा सकता, तब उनके निर्वचन व्यवहार को अबाधित करने के लिए स्यात् पद की योजना सहायक सिद्ध होती है। जैसे– यह मणि है, प्रकाशमान है, शुक्लवर्ण, बहुमूल्य है, इत्यादि मणिगत स्वधर्मों को भी युगपद् कहना शक्य नहीं है, स्यात् कथंचित् होता है। इन अनेक धर्मों की अभिव्यक्ति में सहायक होता है। जैसे– स्यात् यह प्रकाशमान है, यह बहुमूल्य है।

स्यात् पद सुनिश्चित वाचक है और अपेक्षा के लिए है, संशयवाची नहीं। सत् अनन्तधर्मात्मक है, उसे पूर्ण रूप से वचनों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई भी शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण गुणधर्मों को मुखरित कर सके। सत् शब्द भी वस्तु के एक धर्मत्व को कहता है। 'स्यात् अस्ति' वाक्य में अस्ति पद वस्तु के अस्ति धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है।

* अध्यक्ष, सांख्ययोगदर्शनविभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली

''स्यात्'' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रंशसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ हैं। स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। वस्तु के यथार्थ ग्रहण के लिए अनेकान्तदृष्टि से भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। जीव द्रव्यदृष्टि से सत् है, स्वक्षेत्रदृष्टि से सत् है। कालदृष्टि से अनन्त है तथा भावदृष्टि से भी अनन्त है।

महावीर ने गौतम के प्रश्नोत्तरी में कहा- जीव स्यात् याने द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत एवं पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।

'स्यात' शब्द एक प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता।

जैन धर्म में स्याद्वाद, अनेकान्तवाद एवं नयवाद प्रतिपादन किए गए हैं। नयवाद का कहना है वस्तु के अनन्तधर्म हैं। इसलिए वस्तु के जानने के लिए उतनी ही दृष्टियाँ होनी अनिवार्य है। इसमें प्रत्येक दृष्टि बदलजाती है, वस्तु के किसी एक विशेष धर्म को केन्द्र में रखकर विवेचन से काफी नय अनन्त हैं। और वे वस्तु के स्वरूप को केवल अशंतः ही ग्रहण कर पाती है।

सप्तभंगी इस प्रकार है–

1. स्याद् घटः अस्ति एव।
2. स्याद् घटः नास्ति एव।
3. स्याद् घटः अस्ति नास्ति।
4. स्याद् घटः अवक्तव्य एव।
5. स्याद् घटः अवक्तव्य अस्ति च।
6. स्याद घट अवक्तव्य नास्ति च।
7. स्याद् घटः अवक्तव्य अस्ति नास्ति च।

उपरोक्त सातों नयों में चार ही प्रमुख नय माने जा सकते हैं।

पांचवाँ नय प्रथम तथा चौथे का मिश्रण है। छठा दूसरे तथा चौथे का मिश्रण है। तथा सातवाँ तीसरे तथा चौथे का मिश्रण है। इसप्रकार शुद्धदृष्टि से नय चार प्रकार से माने जा सकते हैं। अन्य दर्शनों में भी चार नय स्वीकार किये हैं। बौद्धदर्शन में अस्ति नास्ति उभय योग्य का दृष्टान्त मिलता है। यह चतुष्कोटिक तर्क कहा जाता है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन में भी चार प्रकार के तर्कों का निरूपण मिलता है। चार प्रकार का वचन भंग तो अन्य दर्शनों में भी मिलता है, परन्तु अन्य तीन कहीं भी प्राप्त नहीं होते।

बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति का कहना है– तत्त्व को सत् तथा असत् दोनों प्रकार से बतलाना प्रलापमात्र है। सभी तत्त्व नित्यनित्यात्मक उभयरूप हैं तो उभय भेद सम्भव नहीं हो सकेगा। ऐसे में कहीं का इच्छुक कहीं का प्रयास करेगा। इसी प्रकार आचार्य का कहना है कि उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य तीनों विरोधी धर्म हैं, एक ही धर्मी में नहीं रह सकते, उत्पाद एवं व्यय परिणाम के सूचक हैं तथा ध्रौव्य नित्यता का सूचक है। कोई भी तत्त्व नित्यनित्य नहीं हो सकता। प्रभाकर गुप्त भी इसी प्रकार का दोष स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद में निकालते हैं। वेदान्तियों ने भी स्याद्वाद की बड़ी आलोचना की है। श्री शंकर का कहना है–स्याद्वाद अनिश्चितता का सूचक है, किसी वस्तु को सत् एवं असत् कहना अनिश्चितता मात्र है क्योंकि इससे वस्तु के स्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता तथा निःसंशय प्रवृत्ति नहीं होती। शंकराचार्य जी ने चौथे अवक्तव्य भंग में दोष दिखाया है। उनके अनुसार किसी वस्तु के बारे में कुछ कहना भी और उसे अवक्तव्य बतलाना तो वचन के विरोध स्पष्ट है।

डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने बतलाया कि स्याद्वाद हमें अपेक्षित सत्य, अर्द्धसत्य का ज्ञान कराता है, पूर्ण सत्य को मान लेने की प्रेरणा देता है।

डॉ. चन्द्रधर शर्मा यशोविजय के विचारों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं–इन नयों में विरोध के परिहार की शक्ति तो अवश्य हैं परन्तु ये सात नय बिखरे हुए पुष्प के समान हैं। माला बनाने के लिए बिखरे पुष्पों को धागे की आवश्यकता अनिवार्य है।

स्याद्वाद : दृष्टान्त के प्रयोग

–साध्वी साधना*

जैन दर्शन की चिंतनधारा में स्याद्वाद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह वह सर्वमान्य सिद्धान्त है जिसके द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित की जा सकती है। धार्मिक अन्धविश्वास तथा रूढ़िवाद की थोथी बात को स्याद्वाद ही दूर कर सकता है। स्याद्वाद का उपयोग दर्शन और दैनिक व्यवहार दोनों में किया जाता है। वस्तुपरीक्षण के इस उदार एवं विशाल सिद्धान्त को यदि व्यावहारिक जीवन का अनिवार्य अंग बना लिया जाए, और मन, वचन, कर्म की एकरूपता के नैतिक पथ पर प्रतिष्ठित कर लिया जाए तो निश्चय ही हम एक दिन विषम संघर्ष मूलक परिस्थितियों के प्रतिगामी प्रतिबन्ध को तोड़कर अमर सत्य प्राप्त कर सकेंगे।

जैनदर्शन की आधारशिला

स्याद्वाद जैन दर्शन की अद्वितीय आधार शिला है, जैन दर्शन का भव्य भवन इसी पर निर्मित है। इसी के आधार पर भगवान् महावीर ने विश्व को शांति का शुभ सन्देश सुनाया था। धार्मिक असहिष्णुता और मानसिक संकीर्णता जैसे अमानवीय विषाक्त मानसिक विकारों को समूल उन्मूलन करने वाला स्याद्वाद ही है। परस्पर स्नेह एवं सद्भाव से रहने का सुन्दर पाठ मानव समाज को स्याद्वाद ने ही पढ़ाया है। अपनी विशिष्टता स्थापित करने के निमित्त स्याद्वाद किसी भी धर्म या सिद्धान्त

---

* शोधार्थी, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राजस्थान)

का खण्डन नहीं करता, किन्तु अपने औचित्य के अनुरूप भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण का समन्वय एवं एकीकरण करता है।

न्यायाधीश है स्याद्वाद

स्याद्वाद क्या है? उसकी मौलिक परिभाषा क्या है? उसकी उपयोगिता जीवन-व्यापार के लिए किस रूप में है? विचार करें।

स्याद्वाद का अर्थ है– विभिन्न दृष्टिकोणों का बिना किसी पक्षपात के तटस्थ बुद्धि से समन्वय करना। जो महत्त्वपूर्ण कार्य एक न्यायाधीश का होता है ठीक वही कार्य विभिन्न विचारों के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है। जिस प्रकार एक जज वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के बयान सुनकर दोनों के बयानों की जांच पड़ताल करके निष्पक्ष फैसला देता है उसी प्रकार स्याद्वाद भी दो विभिन्न विचारों को सुनकर उनमें समन्वय करता है।

''स्याद्वाद'' दो शब्दों का संयुक्तीकरण है– 'स्यात्' और 'वाद'। स्यात् का अर्थ है कथंचित् अपेक्षा या दृष्टिकोण और 'वाद्' का अर्थ है सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनों शब्दों का समुदित अर्थ होगा सापेक्ष सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त जो अपेक्षा को लेकर चलता है और भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करता है! अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, सापेक्षता और स्याद्वाद- इन सबका एक ही अर्थ है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है कि अनेकान्त एक व्यापक विचारपद्धति है और स्याद्वाद उसको अभिव्यक्त करने की एक निर्दोष भाषापद्धति है। अनेकान्त दृष्टि को भाषा में उतारना स्याद्वाद है अर्थात् वस्तुस्वरूप के चिन्तन करने की विशुद्ध और निर्दोष शैली अनेकान्तवाद है और उस चिन्तन तथा विचार को अर्थात् वस्तुगत अनन्तधर्मों के मूल में रही हुई विभिन्न अपेक्षाओं को दूसरों के लिए निरूपण करना उनका मार्गोद्घाटन करना ही वस्तुतः स्याद्वाद है।

दृष्टान्त के प्रयोग

एक फल जिसमें रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति भी है, अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति भी है व अनेक रोगों को पैदा करने की शक्ति भी है। हमारी बुद्धि सीमित है, अतः हम वस्तु के सब अनन्त धर्मों को बिना अनन्त ज्ञान हुए नहीं जान सकते। परन्तु स्पष्टतः प्रतीयमान बहुत से धर्मों को तो अपने बुद्धिबल के अनुसार जान ही सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् पहलुओं से देखना जानना ही अनेकान्तवाद है। फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, तब तो हम अनेकान्त और स्याद्वाद का उपयोग करते हैं और फल का यथार्थ निरूपण करते हैं। किन्तु इसके विपरीत जब हम एकान्त आग्रह में आकर यह कहते हैं कि फल में केवल रूप ही है, रस ही है, गध ही है, स्पर्श ही है, तब हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है जब कि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है। रूप भी है- इसका यह अर्थ है कि फल में रस भी है और दूसरे धर्म भी है और रूप ही है, इसका यह अर्थ है कि फल में मात्र रूप ही है, रस आदि कुछ नहीं, यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद है। 'भी' स्याद्वाद है तो 'ही' मिथ्यावाद है।

रिश्तों में स्याद्वाद

एक व्यक्ति बाजार में खड़ा है। एक ओर से एक लड़का आया। उसने उससे कहा- पिताजी। दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया, उसने उससे कहा- 'पुत्र'। तीसरी ओर से एक अधेड़ व्यक्ति आया। उसने कहा-भाई। चौथी ओर से एक लड़का आया। उसने कहा-मास्टर जी। मतलब यह है कि उसी व्यक्ति को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा कहता है, कोई भानजा कहता है। सब झगड़ते हैं, यह कहकर कि, यह तो पिता ही है पुत्र ही है, भाई ही है और चाचा, ताऊ, मामा, भांजा ही है, अब बताइए कैसे निर्णय हो, संघर्ष कैसे

खत्म हो? यहां पर स्याद्वाद को न्यायाधीश बनना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है- हाँ, यह पिता भी है। तुम्हारे लिए तो पिता है चूंकि तुम इसके पुत्र हो। बूढ़े से कहता है हाँ यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं है। अर्थात् व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है अपने भाई की अपेक्षा से भाई है। विद्यार्थी की अपेक्षा से मास्टर है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा, ताऊ, मामा, मानजा, पति, मित्र, सब है। एक ही व्यक्ति में अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा से पिता, पुत्र, भाई, मास्टर, चाचा, ताऊ, मामा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

हाथी और अंधों का सुप्रसिद्ध दृष्टान्त

स्याद्वाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया। एक गांव में जन्म के छह अन्धे मित्र रहते थे। सौभाग्य से वहाँ एक हाथी आया। गांव वालों ने कभी हाथी देखा ना था। धूम मच गई। अंधों ने हाथी के विषय में सुना तो वे भी दौड़े। अंधे थे, दौड़े, पर देखते क्या? उन्होंने हाथी को टटोला। किसी ने पूँछ पकड़ी तो किसी ने सूँड, किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत पकड़ा तो किसी ने पैर पकड़ा। एक एक अंग की पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है। अपने स्थान पर आए तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी।

पूँछ पकड़ने वाले ने कहा-''भई! हाथी तो बिल्कुल मोटे रस्से जैसा था? सूंड पकड़ने वाले दूसरे अंधे ने कहा- झूठ, बिल्कुल झूठ। हाथी कहीं रस्से जैसा होता है? अरे हाथी तो मूसल जैसा था। तीसरा कान पकड़ने वाला बोला- आंखें काम नहीं करती तो क्या हुआ हाथ तो धाोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोला तो वह सूप जैसा था। चौथा दांत पकड़ने वाला सूरदास बोला- तुम सब झूठ बोल रहे हो, हाथी तो कुदाल जैसा था। पांचवें पैर पकड़ने वाला महाशय बोला-अरे!

कुछ भगवान से डरो, हाथी तो खम्भे जैसा था। मैंने खूब अच्छी तरह टटोला था। छठे पेट पकड़ने वाला सूरदास गरजा– अरे! पहले पाप किए तो अंधे बने, अब भी पाप की जड़ों में पानी सींच रहे हो, मैंने देखा, हाथी अनाज भरने की कोठी जैसा है।

आपस में युद्ध छिड़ गया। सौभाग्य से वहां आंखों वाला सज्जन आया। अंधों की तू-तू मैं-मैं सुन उसे हंसी आ गई। पर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गम्भीर हो गया। उसने सोचा भूल हो जाना अपराध नहीं है किन्तु किसी की भूल पर हंसना अपराध है। हृदय करुणार्द्र हुआ। बोला– क्यों झगड़ते हो जरा मेरी बात सुनो। तुम सब सच्चे हो, कोई झूठ नहीं है। तुम में से किसी ने हाथी को पूरा नहीं देखा। तुम एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का बखान कर रहे हो। एकदूसरे को झूठा मत कहो। एकदूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करो। हाथी रस्से जैसा भी है, पूंछ की अपेक्षा से। हाथी मूसल जैसा भी है, सूँड की अपेक्षा से। हाथी सूप जैसा भी है, कान की अपेक्षा से। हाथी दांतों की अपेक्षा कुदाल जैसा है, हाथी पैरों की अपेक्षा से खम्भे जैसा है, हाथी अनाज की कोठी जैसा भी है पेट की दृष्टि से। इस प्रकार सज्जन ने एकान्त की आग में अनेकान्त का पानी डाला। अंधों को अपनी भूल समझ में आई। सभी शांत हुए। उन्होंने समझा सब अंगों के मिलने से ही हाथी होता है एक-एक अलग-अलग अंग से नहीं। आंख वाले सज्जन ने सम्पूर्ण हाथी के रूप में समझाया तो उनका विग्रह समाप्त हो गया।

कलह का नाशक स्याद्वाद

संसार में जितने भी एकान्तवादी सम्प्रदाय हैं वे सब पदार्थ के एक-एक अंश अर्थात् एक-एक धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़तेझगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं पदार्थ का एक अंश मात्र है। स्याद्वाद आंखों वाला दर्शन है। वह एकान्तवादी दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टियों से नहीं। स्याद्वाद दूसरे के

दृष्टिकोण को समझने में सहायक होता है।

स्याद्वाद रहस्यविद् आचार्यो ने स्याद्वाद के विषय में कहा कि अपने अथवा दूसरे के विचारों, मन्तव्यों, वचनों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखना ही 'स्याद्वाद' है। स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। महात्मा गांधी ने स्याद्वाद सिद्धान्त की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान् डॉ. थामस आदि का भी कहना है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। वह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

वस्तुतः स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार में जो सब ओर धार्मिक सामाजिक, राष्ट्रीय आदि बैर विरोध का बोलवाला है वह स्याद्वाद के द्वारा दूर हो सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद वह सम्राट है जिसके सामने आते ही कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत होकर भाग जाते हैं। जब कभी विश्व में शांति का सर्वतोभद्र सर्वोदय राज्य स्थापित होगा तो वह स्याद्वाद के द्वारा ही होगा-यह बात अटल है, अचल है।

सन्दर्भ

1. नयवाद–ले. मुनि फूलचन्द्र श्रमण, प्र.–सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, सम्पादक–श्री विजय मुनि शास्त्री साहित्य रत्न, संस्करण, जनवरी 1958
2. भारतीय दर्शन–श्री सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय व श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त, प्रकाशन–पुस्तक भण्डार, पटना
3. जैनत्व की झांकी
4. प्रमुख जैनागमों में भारतीय दर्शन के तत्त्व–जैन साध्वी सुप्रमाकुमारी सुधा, प्र० मेखलाल मांगीलाल धर्मावत, उदयपुर, प्रथम संस्करण–. महावीर जयन्ती 1994
5. समयसार–श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा. डॉ. पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण,, वि. सं. 2027 ई. 1969

शास्त्रीय संगीत एवं स्याद्वाद

–डॉ. जयकुमार उपाध्ये*

प्राकृत-साहित्य में संगीत के सिद्धांत

जैन प्राकृत वाङ्मय में संगीत के सिद्धांत उपलब्ध होते हैं। शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत-साहित्य में संगीत के प्रचुर तत्त्व प्राप्त होते हैं। जैनाचार्यों ने संगीत के शास्त्रीय सिद्धांतों और नियमों का भी प्रणयन किया है। अर्धमागधी साहित्य में व्याख्यापण्णत्ति, रायपसेणीय, जीवाभिगम, जम्बूदीवपण्णत्ति और अनुयोगद्वारसूत्र आदि ग्रंथों में संगीत को कला के रूप में विवेचन प्राप्त होता है। जैन साहित्य के दृष्टिकोण से संगीतशास्त्र की उत्पत्ति 13वें पूर्वग्रन्थ क्रियाविशाल से हुई है। इसी पूर्व में संगीतशास्त्र के विविध सिद्धांतों का निरूपण किया गया है, जिसमें काव्य के गुण, दोष, छन्द, अलंकार एवं 72 कलाओं का नौ करोड़ पदों द्वारा वर्णन किया गया है। ठानांगसूत्र में स्वरों की उत्पत्ति के सम्बंध में वर्णन किया है।

सज्जे रिसहे गंधारे, मज्झिमे पंचरे सरे।
धेवए चेव नेसाए, सरा सत्त विआहिया।।
एएसिं णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पराणत्ता।

स्थानाङ्ग सूत्र में सप्त संख्या का विश्लेषण करते हुए षड्ज (सा), ऋषभ (रे) गन्धार (ग), मध्यम (म), पंचम (प), धैवत (ध) एचं निषाध (नी)– इस प्रकार सात स्वरों का वर्णन किया है।

सज्जं तु अग्गजीआए उरेण रिसभं सरं।
कण्ठुग्गएण गधारं मज्झजिआए मज्झिमं।।

---

* सह-आचार्य, प्राकृतभाषाविभाग, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली।

सासाए पंचमं बूया दंतोट्ठेण अ धेवतं।
भमुहक्खेवेण णेसायं सरट्ठाणा वि आहिया।।

अर्थात् षड्ज अग्रजिह्वा से, उरस्थान से ऋषभ, कण्ठ से गांधार, मध्यजिह्वा से मध्यम, नासिका से पंचम, दंत्योष्ठ्य से धैवत तथा निषाध की उत्पत्ति होती है। इसी ग्रन्थ में प्राणियों की ध्वनि और सप्त स्वरों का भी सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। यथा–

सज्जं रवइ मयूरो कुक्कुडो रिसभं सरं।
हंसो रवइ गंधारं मज्झिमं तु गवेलगा।
अट्ठ कुसम संभवे काले कोइला पंचमं सरं।
छट्ठं च सारसा कोंचा णेसायं सत्तमं गओ।।

मयूर की ध्वनि के समान षड्ज, मुर्गे की ध्वनि के समान ऋषभ, हंस की ध्वनि के समान गान्धार, मेष की ध्वनि के समान मध्यम, वसन्त ऋतु में बोलनेवाली कोकिला के ध्वनि के समान पञ्चम, सारस की ध्वनि के समान धैवत और गजध्वनि के समान निषाद स्वर होता है।

वाद्यध्वनि एवं सप्तस्वर

मृदङ्ग ध्वनि से षड्ज, गोमुखी वाद्य से ऋषभ, शंख से गान्धार, झालर से मध्यम, गोधिका नामक वाद्य विशेष से पञ्चम स्वर, आडम्बर नामक वाद्य से धैवत और भेरी से निशाद स्वर निनाद करता है। गीत, वाद्य और स्वरों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बताया है कि षड्ज स्वर से गायन आरम्भ करने पर श्रोताओं के मन में विशेष रुचि उत्पन्न होती है। इस स्वर के प्रयोग में नारियाँ प्रवीण होती हैं। ऋषभ स्वर से गायन आरम्भ करने पर यश, कीर्ति की प्राप्ति होती है। गान्धार स्वर से गीत आरम्भ करने पर विद्याओं और कलाओं की प्राप्ति होती है। मध्यम स्वर से गीत आरम्भ करने पर सुख-शांति, पञ्चम स्वर से गीत आरम्भ करने पर भी आनन्द की प्राप्ति होती है। धैवत और निषाद से गीत आरम्भ करने का निषेध है।

अनुयोगद्वार ब्यावर संस्करण में पञ्चम स्वर से गीत आरम्भ करने पर भी आनन्द की प्राप्ति होती है। धैवत और निषाद से गीत आरम्भ करने का निषेध है।

सत्तसरा तीओ गामा, मुच्छणा इक्कवीसई।
ताणा एगूणपण्णासं, सम्मत्तं सरमंडलं॥

अनुयोगद्वार, व्यावर संस्करण, सूत्र 127

अर्थात् सप्तस्वर, तीन ग्राम, 21 मूर्च्छनाएँ और 49 तान स्वरमंडल में होती है। इस प्रकार आगमसूत्रों में संगीत के सिद्धान्त निबद्ध मिलते हैं।

इसी ग्रन्थ में गीत के गुण और दोष भी बतलाये गये हैं। छह दोषों और आठ गुणों का कथन करते हुए लिखा है–

भीयं दुअं य उप्पिच्छं, उत्तालं च कमसो मुणेअव्वं।
कगस्सर मणुणासं छद्दोसा होंति गेअस्स॥

पुण्णं रत्तं च अलंकिअं, च वत्तं च तहेवमविघुट्ठं।
महुरं समं सुललिअं अट्ठगुणा होंति गेअस्स॥

भीत, द्रुत, उत्क्षिप्त, उत्तल, काकस्वर और चित्तचञ्चलता यह छह दोष गीत के हैं। पूर्ण, रक्त, अलंकृत, वृत्त, अवघुट्टित, मधुर, सम और सुललित ये आठ गुण गीत के हैं।

ध्वनि का क्षेपण उर, कण्ठ, सिर, विशुद्ध, मृदु, रिभित, पदबद्ध, समताल द्वारा वाद्य मूलक होता है। गीत सप्तस्वर रसभरित होती है।

अक्षरसम, पदसम, तालसम, लयसम, गेयसम, उच्छ्वास–निश्वास–सम और संचारसम ये सात स्वर भी गीत के बतलाये गये हैं। गीत के गुण निर्दोष, सारयुक्त, हेतुयुक्त, अलंकृत, उपनीति, सोपकार, मृदु, मधुरता से युक्त रहने चाहिए।

जैन संस्कृत साहित्य में संगीत विद्या

जैन आचार्यो द्वारा लिखित संगीत को प्रमुखतः चार भागों में विभक्त कर विवेचन करना सम्भव है। प्रथम वर्ग में दार्शनिक ग्रन्थों में निहित संगीत, द्वितीय में पुराण और काव्य ग्रन्थों में निहित संगीत, तृतीय में स्वतन्त्र रूप से लिखा गया संगीत साहित्य एवं चतुर्थ में प्रायोगिक संगीत ग्रन्थ हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय के 24 वें सूत्र–**''शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च''** की टीका में शब्द की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद अकलंकदेव और विद्यानन्द आदि सभी आचार्यो ने शब्द के दो भेद बतलाये हैं–भाषात्मक और अभाषात्मक। अभाषात्मक शब्दों के भी दो भेद हैं–प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक शब्दों के अन्तर्गत ही वाद्यध्वनि, कंठध्वनि और पदध्वनि का समावेश किया है। वाद्यध्वनि में चार प्रकार के वाद्यों को प्रमुखता दी है, तत, वितत, घन और सौषिर।

''तत्र चर्मतननिमित्तः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवस्ततः। तन्त्रीकृत वीणासुघोषादिसमुद्भवो विततः। तालघण्टालानाद्यभिघातजो धनः। वंशशंङ्खादिनिर्मितः सौषिरः।

आधुनिक हिन्दी-काव्य-साहित्य में संगीत एवं स्याद्वाद–

**वस्तु-स्वभाव है धर्ममयी, प्रकृति जैसा ही बतलाया।
स्याद्वादमयी शुभ वाणी से, यह सप्तभंगी को सिखलाया।
जब कथन करेंगे वस्तु का, वह अर्पित और अनर्पित है।
इस मुख्य-गौण के होने पर, जीवन यह आज समर्पित है।।**

**जब अनेकांत से बात करें, ना झगड़ा और लड़ाई है।
स्याद्वादमयी शैली बोलें, तब होती खूब बड़ाई है।।**

**एकांत रूप के वचन सभी, मिथ्या बुद्धि के कहलाते।
अज्ञान भरा है रग-रग में, इससे ही जीव हैं भरमाते।।**

**हे दिव्य ज्योति अति सुखकारी, जीवन उजियारा करती है।
है बीजपदों में शक्ति लीन, अज्ञान दशा को हरती है।।**

सब ज्ञान ध्यान अभ्यास करे, यह ही तप की रक्षा करता।
स्वाध्याय करें जिनशास्त्रों का, मुक्ति का पथ जाग्रत करता॥

आतम के प्रबल शत्रु बैठे, रागी-द्वेषी बन लूट रहे।
अनयासी नित्य कषायी बन, दुर्गतियों में ही रौल रहें॥

जो राग द्वेष मिथ्यात्व रहित, होकर के भाव बनाता है।
वह दिव्यध्वनि धारण करने, शुभ समवशरण में जाता है॥

जय-जय दिव्यध्वनि सुखकारी, जिन भाषित कल्याणी।
मोह तिमिर का नाश करती, स्व-पर भेदविज्ञानी॥

वस्तु स्वरूप बताती है ये, मंगलकरणी वाणी।
सप्तभंग से वर्णन करती, ज्योतिर्मय जिनवाणी॥

सात सत्त्व अरु नव पदार्थ का, वर्णन ये करती है।
प्रभु वाणी से बरसे अमृत, संकट सब हरती है॥

अनेकांतमय वाणी प्यारी, तीन जगत हितकारी।
चार कोस तक जीव सुने हैं, जन-जन की उपकारी॥

संगीत : एक शाश्वत प्रेम

संगीत में शाश्वत प्रेम समाहित है। यही कारण है कि संगीत के इतिहास में पाषाण को द्रवित करने, नदी के प्रवाह को अवरुद्ध करने, पानी बरसने, वायु के प्रवाहित होने और शुष्क वृक्षों के हरित होने की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। वस्तुतः निःस्वार्थ प्रेम संगीतमय जीवन की सतत प्रवहमान धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले जीव परमानन्द को प्राप्त होते हैं। सरस संगीत और शाश्वत प्रेम दोनों एक ही सिक्के की दो पीठिकाएँ हैं, जो अभिन्न हैं। मानव-हृदय अभिलाषाओं और इच्छाओं का क्रीड़ा-स्थल है। कभी उसमें सुख की तरंगें उठती हैं, तो कभी दुःख की, कभी आशा और उत्साह का संचार होता है, तो कभी निराशा और उदासीनता का। मानव-हृदय की इन असंख्य भावनाओं और वृत्तियों के बीच संगीत द्वारा उत्पन्न प्रेम ही स्थिरता का संचार करता है। जीवन-

सरिता का उद्देश्य सुन्दर, भव्य और आकर्षक है। वह परमानन्द की प्राप्ति का साधन है। अतएव संगीत और प्रेम का अविनाभाव सम्बन्ध सभी विचारक और कलाकार स्वीकार करते हैं।

शास्त्रीय संगीत के स्वरूप से मानवता का पाठ

संगीत मानवता का पाठ पढ़ाता है। यह असभ्य को सभ्य, संकीर्ण हृदय को उदार और विशाल बना देता है। संगीत–समीर के शीतल झोंके हृदय की कलुषता, विकृत वासनाओं, संकीर्णता, तामसी वृत्तियों एवं आसुरी भावनाओं का उच्छेदन कर आत्मा को निश्छल और पवित्र बना देता है। श्री उपेन्द्र चन्द्रसिंह ने "What is music" नामक ग्रन्थ में लिखा है–

"To summaries what is music one can safely say it is a kind of yoga system through the medium of sonorous sound which act upon the human organism and awaken and develop their proper function to the extent of self realisation. The ultimate gole of Hindu Philosophy or religion.

अर्थात् संगीत एक योग विद्या है, जिसकी तीव्र तथा तीव्रतर ध्वनियाँ मनुष्य की सूक्ष्म स्नायुओं को झंकृत कर सुषुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर देती है तथा मानवता को आत्मोन्नति की चरम सीमा मोक्ष के द्वार तक पहुँचा देती है, जो भारतीय दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

संगीत का मूलाधार प्रकृति और संगीत के पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों को मुखरित और आप्लावित कर सकने की साधना है। पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों को जाग्रत कर मनुष्य और प्रकृति को प्रभावित, परिष्कृत और उर्वर बनाया जा सकता है। आज का विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि संगीत के माध्यम से खूँखार पशुओं को वशीभूत किया जा सकता है। पेड़पौधों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। संगीत में रागों की प्रभावशीलता इतनी अलौकिक है कि दीपों का प्रज्वलित होना और पयोधरों का विगलित हो बरसने लगना प्रत्यक्ष है।

ज्ञान, ध्यान, जप, स्तोत्र आदि से बढ़कर संगीत की शक्ति मानी गई है। वस्तुतः संगीत अपनी रागात्मक शक्ति के कारण संवेदनशीलता, सहानुभूति, करुणा और त्याग का सहज में संचार कर सकता है।

उपसंहार

संगीत का क्षेत्र असीमित है। यह प्रत्येक वाणी में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार शरीर में आत्मा। मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना होता है उसके लिए यह कला संजीवनी है। आत्मा और परमात्मा के भेद को दूर करने के लिए यह कला सहज और सरस है। संगीत कला में वह रस है, जो मनुष्य बहिर्जगत से अपना सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु हृदय की उन छिपी हुई भावनाओं को जाग्रत् करता है जिसके अभाव में मनुष्य अपने विकास में असमर्थ है। अतएव हमें कहना चाहिए कि संगीत में अद्‌भुत शक्ति है, जिसमें किसी भेद-भाव, ऊँच-नीच का ध्यान नहीं। संगीत वह विद्या है, जिसका कोई छोर नहीं ; यह वह कला है, जिसका सामीप्य प्राप्त होने पर मानव परम आनन्द को प्राप्त करता है।

महाकवि जन्न ने अपने अनंतनाथ काव्य में लिखा है कि संगीत से पत्थर पिघल जाता है। भयंकर सर्प सौम्य होकर सिर हिलाता है। पुष्प-पल्लव अधिकता से विकसित होने लगते हैं। पशु मोहित-मुग्ध हो जाते हैं। निरन्तर रुदन करने वाला बालक संगीत के प्रभाव से हंसने लगता है।

संगीत से कुलांच भरता हरिण स्तब्ध हो पास आ जाता है, गजराज वशीभूत हो जाता है। दीपकराग गाकर तानसेन ने बिना अग्नि के दीप जला दिये– ऐसी ऐतिहासिक श्रुति है। गीतों के संगीत से काल-ताल-लय- मात्राओं द्वारा एक ऐसी ध्वनिशक्ति उत्पन्न की जाती है, जो मन प्राण को आधीन कर लेती है। इसलिए कहा है–

''योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णं वियूशितः। रंजकी जनचित्तानां स रागः कथितो बुधः''

विशेष ध्वनि उत्पन्न करने वाला स्वर-वर्ण मनुष्यों के चित्त का अनुरंजन करता है, उसे राग कहते हैं। गीत, नृत्य, वाद्य तीनों संगीत हैं। पानी खींचते हुए खेतों की सिंचाई करने वाले प्राय: लोकगीत गाते रहते हैं पशुओं के गले में घंटियाँ बांध देते हैं– इससे उन्हें थकान नहीं होती। स्त्रियां जब धान कूटती है, चक्की से आटा निकालती हैं, उनकी चूड़ियों की झन्कार उनके श्रम को कम कर देती है। धनिकों के उद्यानों में मयूर नाचते हैं, कोकिल कुहू-कुहू बोलती है, अनेक चिड़ियाँ प्रात:- शाम वृक्षों पर आनन्दराग सुनाती हैं। इससे मन प्रसन्न होता है, इच्छाओं को क्रियाशक्ति मिलती है।

वीर, शान्त और श्रृंगार रस को संगीत से शतगुणा किया जा सकता है। संगीत से चार व्यक्तियों में गोष्ठीबन्ध होता है। वे मिलकर गाते हैं। तन्मयता का अनुभव करते हैं। रणभेरी को सुनकर वीरों के भुजदण्ड फड़क उठते हैं किन्तु कायरों को भय आक्रान्त कर लेता है। संगीत एक ऐसी विद्या है, जिसका विधिवत् अध्ययन करने से स्वर-नाद का विद्वान् हो जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. आर्यिका स्वस्तिभूषण माताजी, स्वयंभू कल्पद्रुम विधान, प्रकाशक-स्वस्ति केन्द्रीय मण्डल, सहारनपुर।
2. परमपूज्य आर्यिकारत्न श्री 105 पूर्णमति माताजी, श्री अर्हचक्रविधान, प्रकाशक-प्रबोधकुमार देवेन्द्रकुमार शाह, वास्तु सलाहकार, ई 2/14 अरेरा कॉलोनी, भोपाल।
3. जया जैन, संगीतशती, प्रकाशक श्री 108 आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज ट्रस्ट, दिल्ली
4. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्।
5. आचार्य बृहस्पति, सङ्गीत समयसार, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली।
6. विद्यानंद मुनि, अंगूर, भेंटकर्ता: अम्बाप्रसाद विनयप्रकाश जैन मेरठ एवं मांगेलाल जैन, प्रो. माला प्रिंटिंग प्रेस, कबाड़ी बाजार, मेरठ।

स्याद्वाद के अनूठे प्रयोग

–डॉ. राकेश जैन शास्त्री*

जैनदर्शन में स्याद्वाद को सामान्यत: चार नामों से जाना जाता है– अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगी। इन चारों को स्थूलतया पर्यायवाची के रूप में ही माना जाता है, परन्तु यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो इनके अलग-अलग अर्थ से भी परिचित हो सकते हैं।

'अनेकान्तवाद' के अन्तर्गत परस्पर विरोधी धर्म-युगलों के कथन का समावेश होता है; जैसे, जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है, इत्यादि।

'स्याद्वाद' के अन्तर्गत स्यात् या कथंचित् शब्दों का प्रयोग किया जाता है; जैसे, वस्तु कथंचित् एक है, कथंचित् अनेक है; कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है; कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है, इत्यादि।

'नयवाद' के अन्तर्गत नयों का प्रयोग किया जाता है; जैसे आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य है, एक है, अनन्य है तथा पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, अनेक है, अन्य अन्य है।

इसी प्रकार 'सप्तभंगी' न्याय के अन्तर्गत सात भंगों का प्रयोग किया जाता है; जैसे, अस्तित्वनय से 'है', नास्तित्वनय से 'नहीं है', अस्तित्व-नास्तित्वनय से दोनों धर्मों को क्रमश: कहने पर 'है' और 'नहीं है,' अवक्तव्यनय से दोनों धर्मों को युगपत् कहना अशक्य होने से 'अवक्तव्य' है, अस्तित्व-अवक्तव्यनय से 'है' और 'अवक्तव्य' है, नास्तित्व-अवक्तव्यनय से 'नहीं है' और 'अवक्तव्य' है, तथा अन्तिम अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से 'है', नहीं' और 'अवक्तव्य' है।

---

* अधिष्ठाता, महावीर विद्या निकेतन, जैन मंदिर, इतवारी, नागपुर (महा.)

समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र स्याद्वाद को 20 बोलों के माध्यम से लिखते हैं–**1. एकस्य बद्धो न तथा परस्य** अर्थात् एक नय कहता है कि आत्मा बद्ध है, जबकि दूसरा नया कहता है कि ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अन्य बोलों में कहते हैं–2. एकस्य मूढ़ो न तथा परस्य, 3. एकस्य रक्तो न तथा परस्य, 4. एकस्य दुष्टो न तथा परस्य 5. एकस्य कर्ता न तथा परस्य, 6. एकस्य भोक्ता न तथा परस्य 7. एकस्य जीवो न तथा परस्य, 8. एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य 9. एकस्य हेतुर्न तथा परस्य, 10. एकस्य कार्यं न तथा परस्य, 11. एकस्य भावो न तथा परस्य, 12. एकस्य चैको न तथा परस्य, 13. एकस्य सान्तो न तथा परस्य, 14. एकस्य नित्यो न तथा परस्य, 15. एकस्य वाच्यो न तथा परस्य, 16. एकस्य नाना न तथा परस्य 17. एकस्य चेत्यो न तथा परस्य 18. एकस्य दृश्यो न तथा परस्य, 19. एकस्य वेद्यो न तथा परस्य, 20. एकस्य भातो न तथा परस्य।

जनसामान्य को तो सामान्यतः अनेकान्तवाद या स्याद्वाद ही गले नहीं उतरता; जैसे, उनके अनुसार जो सत् है, वही असत् कैसे हो सकता है? जो नित्य है, वही अनित्य कैसे हो सकता है? जो एक है, वही अनेक कैसे हो सकता है? इत्यादि। जबकि इस लेख के माध्यम से मैं स्याद्वाद के उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त विभिन्न एवं विचित्र प्रयोगों से परिचित कराना चाहता हूँ, ताकि हम स्याद्वाद की अपरिहार्यता को समझ सकें, उसे अपना सकें, अपनी जीवन-शैली का अंग बना सकें एवं उसके महत्त्व से परिचित हो सकें।

यद्यपि स्याद्वाद को अधिकांशतः हम सभी अपने जीवन में एवं वचनों में भी प्रयोग तो करते हैं, तथापि उसे सैद्धान्तिकरूप से स्वीकार नहीं करते। जैसे, हम अक्सर यह कहते हुए मिल जाएँगे कि 'मेरे कहने का मतलब यह नहीं था,' 'मेरी अपेक्षा आप समझे नहीं,' 'मैं तो यह कहना चाहता हूँ', इत्यादि वचन-प्रयोग स्याद्वाद के ही प्रयोग हैं।

यहाँ मैं स्याद्वाद के कुछ विचित्र प्रयोगों से आपको अवगत कराना चाहता हूँ। आचार्यों ने गधे नामक बैल के सींगों को देख कर यह कहना कि यह इस गधे के सींग हैं अथवा पूर्वजन्म का बैल मर कर

गधा हुआ, उसके पूर्व जन्म के सींगों को देख कर यह कहना कि यह इस गधे के सींग हैं तथा आकाशकुसुम (सभी फूल आकाश में ही होते हैं क्योंकि वृक्ष, पृथ्वी आदि भी तो आकाश में ही होते हैं), आदि वचनों को भी अपेक्षा से सिद्ध किया है। इन्हें हम कबीर-साहित्य की भाषा में स्याद्वाद की उलटवासियाँ भी कह सकते हैं। इसी प्रकार के सामान्यतः अजीबोगरीब प्रतीत होने वाले कतिपय विचित्र प्रयोग आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं–

1. अनेकान्त में भी कथंचित् अनेकान्त, कथंचित् एकान्त। अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते, तदेकान्तोर्पि-तान्नयात्। (आप्तमीमांसा)

अर्थात् अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है, उसके दो भेद हैं–कथंचित् अनेकान्त और कथंचित् एकान्त। वह प्रमाण ही अपेक्षा अनेकान्तस्वरूप है और नय की अपेक्षा एकान्तस्वरूप।

2. कथंचित् मैं मनुष्य हूँ, कथंचित् नहीं हूँ। मैं पर्यायार्थिकनय या व्यवहारनय की अपेक्षा मनुष्य हूँ; जबकि द्रव्यार्थिकनय या निश्चयनय से आत्मा हूँ। मनुष्य नहीं हूँ।

3. जीव कथंचित् 'है', कथंचित् 'नहीं है'। जीव, स्वचतुष्टय की अपेक्षा 'है' या सत् है, जबकि परचतुष्टय की अपेक्षा 'नहीं है' या असत् है।

4. आत्मा कथंचित् मूर्त है, कथंचित् अमूर्त। आत्मा, मूर्तकर्म से संयुक्त होने से मूर्त है, जबकि वही ज्ञानशरीरी अतीन्द्रिय शुद्ध पदार्थ होने से अमूर्त है।

5. आत्मा कथंचित् चेतन है, कथंचित् अचेतन। आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की अपेक्षा चेतन है, जबकि नित्यत्व आदि गुणों की अपेक्षा अचेतन है।

6. जीव कथंचित् संसारी है, कथंचित् असंसारी। जीव चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करने की अपेक्षा संसारी है, जबकि

शुद्धस्वभाव या शक्ति की अपेक्षा असंसारी है। कहा है–'भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः' अर्थात् एक ओर से देखने पर भव या संसार की पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करती है।

7. आत्मा कथंचित् व्यापक है, कथंचित् अव्यापक। जीव, शरीर-प्रमाण होने से अव्यापक है, जबकि केवली समुद्घात की अपेक्षा वही जीव, लोकप्रमाण होने से व्यापक है।

8. जीव, कथंचित् भव्य है, कथंचित अभव्य। 'होने योग्य' को भव्य और 'नहीं होने योग्य' को अभव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य, अपनी होने योग्य आगामी पर्यायों की अपेक्षा भव्य है, जबकि अन्य द्रव्यरूप नहीं होने की अपेक्षा तथा नहीं होने योग्य आगामी अवस्थाओं की अपेक्षा अभव्य है।

9. मिथ्यादृष्टि आत्मा, कथंचित् बहिरात्मा है, कथंचित् परमात्मा। मिथ्यादृष्टि भव्य आत्मा को वर्तमान पर्याय की अपेक्षा बहिरात्मा, जबकि भावि नैगमनय या शक्ति की अपेक्षा अन्तरात्मा या परमात्मा कहा जा सकता है।

10. णमोकार मन्त्र कथंचित् सादि, कथंचित् अनादि। णमोकारमन्त्र को उसमें वर्णित पाँच पदों की अपेक्षा अनादि, जबकि शब्दरचना की अपेक्षा सादि कहा जाता है।

11. जीव, कथंचित् अन्य जीव को मार या बचा सकता है, कथंचित् मार या बचा नहीं सकता।

जीव, व्यवहारनय या दयाधर्म की अपेक्षा अन्य जीव को मार या बचा सकता है, जबकि निश्चयनय या आयुकर्म के नियमानुसार वह अन्य जीव को मार या बचा नहीं सकता है।

12. स्याद्वादी अल्पज्ञानी भी कथंचित् सर्वज्ञ है, कथंचित् नहीं है।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।

(आप्तमीमांसा)

अर्थात् स्याद्वादी अल्पज्ञानी और पूर्णज्ञानी केवलज्ञानी में सर्व तत्त्वों के प्रकाशन के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं है, मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है।

इसी प्रकार सर्व जीवों में पाये जाने वाले केवलज्ञानभाव की अपेक्षा सभी सर्वज्ञ हैं, अतः अल्पज्ञानी स्याद्वादी भी सर्वज्ञ हैं, जबकि पर्यायदृष्टि से क्षयोपशमज्ञानी स्याद्वादी सर्वज्ञ नहीं है।

13. केवली कथंचित् सर्वज्ञ, कथंचित् आत्मज्ञ या असर्वज्ञ।

केवली भगवान्, व्यवहारनय से ही परद्रव्यों को जानते हैं, अतः सर्वज्ञः हैं, जबकि निश्चयनय से वे भी केवल आत्मा को ही जानते हैं, अतः वे आत्मज्ञ या असर्वज्ञ हैं।

इसी प्रकार केवली भगवान् भी वर्तमान एवं भविष्यकाल में ही सर्वज्ञ हैं, जबकि भूतनैगमनय की अपेक्षा वे भी असर्वज्ञ है, क्योंकि भूतकाल में वे अल्पज्ञान थे।

14. आत्मा कथंचित् सर्वगत, कथंचित् असर्वगत।

प्रत्येक आत्मा, शरीरप्रमाण होने से असर्वगत है, जबकि केवली-समुद्घात के समय आत्मा एक समय के लिए लोकप्रमाण सर्वगत हो जाता है।

इसी प्रकार आत्मा, सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के कारण भी सर्वगत कहलाता है, जबकि सबको जानते हुए भी उसके प्रदेश लोकालोकप्रमाण नहीं होने के कारण वह सर्वगत नहीं है, असर्वगत है।

15. कथंचित् गुरु समझा सकते हैं, कथंचित् नहीं।

. गुरु, समझदार शिष्य को ही समझा सकते है, जबकि मूर्ख शिष्य को वे भी नहीं समझा सकते हैं।

. समझदार शिष्य को भी समझदार गुरु ही समझा सकते हैं, जबकि उन्हें भी मूर्ख गुरु नहीं समझा सकते।

. निमित्तप्रधान दृष्टि से ही गुरु समझा सकते है, जबकि उपादान की दृष्टि में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, अतः गुरु, शिष्य को समझा नहीं सकते।

16. आचार्य कुन्दकुन्द, कथंचित् समयसार के कर्ता हैं, कथंचित् नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द, व्यवहारनय से ही समयसार के निमित्तकर्ता हैं, जबकि निश्चयनय से वे भी उसके उपादानकर्ता नहीं हैं क्योंकि समयसाररूप शास्त्र के उपादानकर्ता तो वे पुद्गलपरमाणु हैं, जिनसे वह निर्मित हुआ है।

17. विद्वान्, कथंचित् ज्ञानी, कथंचित् अज्ञानी।

विद्वान् अपने द्वारा ज्ञात विषय को जानने की अपेक्षा ज्ञानी हैं, जबकि अन्य अज्ञात विषयों की अपेक्षा वे भी अज्ञानी हैं।

18. मिथ्यात्वी विद्वान् भी कथंचित् ज्ञानी, कथंचित् अज्ञानी।

मिथ्यात्वी विद्वान् को भी आगम के आधार पर क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा कदाचित् ज्ञानी कहा जा सकता है, जबकि मिथ्यात्व के सद्भाव अथवा सम्यग्ज्ञान के अभाव के कारण वह अज्ञानी ही है।

19. सम्यक्त्वी भी कथंचित् सम्यक्त्वी है, कथंचित् मिथ्यात्वी।

सम्यक्त्वी, वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सम्यक्त्वी है, जबकि भूतकाल या भविष्यकाल की अपेक्षा उसे मिथ्यात्वी भी कहा जा सकता है।

20. मिथ्यात्वी भी कथंचित् सम्यक्त्वी है, कथंचित् मिथ्यात्वी।

मिथ्यात्वी भी वर्तमान पर्याय की अपेक्षा तो **मिथ्यात्वी** है, जबकि भूतकाल या भविष्यकाल की अपेक्षा उसे सम्यक्त्वी भी कहा जा

सकता है।

21. ज्ञान, कथंचित् सविकल्प है, कथंचित् निर्विकल्प।

ज्ञान का स्वरूप साकार होने की अपेक्षा अथवा इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा उसे सविकल्प कहा जाता है, जबकि आत्मानुभूति के काल में आत्मा में तल्लीन हुए अतीन्द्रिय ज्ञान को निर्विकल्प कहा जाता है।

22. ज्ञान, कथंचित् प्रमाण है, कथंचित् अप्रमाण।

ज्ञान, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा प्रमाण है, जबकि मिथ्याज्ञान की अपेक्षा अप्रमाण है क्योंकि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान, दोनों ज्ञान के ही भेद हैं। इसी प्रकार ज्ञान, अपने विषय की अपेक्षा प्रमाणरूप है, जबकि अपने विषय के बाहर अप्रमाणरूप है।

23. कथंचित् मतिआदि ज्ञान केवलज्ञान के अंश हैं, कथंचित् नहीं हैं।

ज्ञानसामान्य की अपेक्षा मतिज्ञानादि, केवल'ज्ञान' के अंश हैं तथा सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा मतिज्ञानादि में केवलज्ञान के अंशमात्र का ज्ञान होता है, जबकि पर्यायदृष्टि से मतिज्ञानादि से मतिज्ञानादि पर्यायें, केवलज्ञान की अंश नहीं हैं क्योंकि वे पर्यायें अलग हैं और केवल ज्ञान की पर्याय अलग है।

24. कथंचित् द्रव्यलिंग से मोक्ष है, कथंचित् भावलिंग से।

कथंचित् द्रव्यलिंग से मोक्ष होता है क्योंकि द्रव्यलिंग के बिना केवल भावलिंग से मोक्ष नहीं होता है, जबकि कथंचित् भावलिंग से मोक्ष होता है क्योंकि भावलिंग के बिना केवल द्रव्यलिंग से मोक्ष नहीं होता है।

25. कथंचित् द्रव्यलिंग पूज्य है, कथंचित् अपूज्य।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि द्रव्यलिंगी के व्यवहार धर्मसाधन बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार है अतः

चरणानुयोग की अपेक्षा द्रव्यलिंगी पूज्य को पूज्य मानना उचित है, जबकि करणानुयोग और चरणानुयोग की अपेक्षा द्रव्यलिंगी पूज्य नहीं है क्योंकि भावलिंग के बिना मुक्ति नहीं।

26. कथंचित् अभी मोक्ष है, कथंचित् नहीं है।

पंचमकाल में भी परम्परा से मोक्ष माना गया है क्योंकि पंचमकाल में आत्मा का ध्यान करके जीव इन्द्रपद पाता है अथवा लौकान्तिकदेव होता है तथा वहाँ से च्युत होकर मनुष्य बन कर मुनि होकर मुक्ति पाता है; जबकि वर्तमान में पंचमकाल में जन्मा मनुष्य, साक्षात् मुक्ति के योग्य नहीं माना गया है। यद्यपि चतुर्थकाल में जन्मे अनेक जीव पंचमकाल में भी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उसमें विरोध नहीं है; जैसे, गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी, श्रीधर आदि अनेक केवली मुक्त हुए हैं।

27. सिद्ध कथंचित् सिद्ध हैं, कथंचित् असिद्ध।

वर्तमान पर्याय की अपेक्षा तो सिद्ध भगवान सिद्ध हैं ही, जबकि भूतकाल की अपेक्षा उन्हें भी असिद्ध कहने में दोष नहीं है।

28. सिद्ध कथंचित् साकार, कथंचित् निराकार।

सिद्ध भगवान् अनन्त सर्वज्ञों के द्वारा ज्ञानगम्य है तथा अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून शरीराकार विराजमान हैं अत: वे साकार हैं; जबकि वे भी इन्द्रियगम्य नहीं होने से निराकार हैं।

29. सिद्ध कथंचित् सूक्ष्म, कथंचित् महान।

सिद्ध भगवान् अमूर्त होने से तथा सूक्ष्मत्वगुण से संयुक्त होने के कारण सूक्ष्म हैं; जबकि लोक के शिखर पर विराजमान होने के कारण तथा सर्वदर्शित्व, सर्वज्ञत्व आदि महान् गुणों को धारण करने के कारण महान हैं।

30. सिद्ध कथंचित् शून्य, कथंचित् अशून्य।

सिद्ध भगवान् शून्यनय के कारण परद्रव्य और उनके गुणों से रहित होने के कारण शून्य हैं; जबकि सदा ही केवलज्ञान आदि गुणों से सहित होने के कारण शून्य नहीं हैं।

31. एक ही क्रिया कथंचित् अच्छी, कथंचित् अच्छी नहीं।

कोई क्रिया, अपने से नीची अशुभ क्रियाओं की अपेक्षा तो अच्छी है; जबकि वही क्रिया अपने से उच्च शुभ क्रियाओं की अपेक्षा अच्छी नहीं है।

32. कथंचित् प्रतिक्रमण विषकुम्भ है, कथंचित् अमृतकुम्भ।

अशुभोपयोग से निवृत्ति करने हेतु तो शुभोपयोगरूप प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है; जबकि शुद्धोपयोग अवस्था की अपेक्षा शुभोपयोगरूप प्रतिक्रमण भी विभावभावस्वरूप होने के कारण विषकुम्भ है।

33. सातवें गुणस्थान में भी कथंचित् शुद्धोपयोग है, कथंचित् नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि सातवें गुणस्थान के ऊपर बुद्धिपूर्वक रागादिभाव के अभाव के कारण द्रव्यानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है जबकि करणनुयोग की अपेक्षा सप्तमादि गुणस्थानों में भी अबुद्धिपूर्वक रागादि के सद्भाव के कारण शुद्धोपयोग नहीं है।

34. जीवत्व कथंचित् पारिणामिकभाव, कथंचित् औदयिकभाव।

चैतन्यगुण की अपेक्षा जीवत्व पारिणामिकभाव है, जबकि वही दश प्राणरूप जीवत्व की अपेक्षा औदयिकभाव है।

35. औपशमिक और क्षायिकभाव कथंचित् समान, कथंचित् असमान। शुद्धता अथवा निर्मलता की अपेक्षा औपशमिकभाव और क्षयिकभाव में समानता है, जबकिकाल की अपेक्षा दोनों में महत् असमानता है।

36. केवलज्ञान और केवलदर्शन कथंचित् समान, कथंचित् असमान।

क्षायिकभाव की अपेक्षा दोनों में समानता है क्योंकि दोनों क्षायिकभाव हैं, जबकि दोनों में गुणों की अपेक्षा असमानता है।

37. अग्नि, कथंचित् पानी को गर्म करती है, कथंचित् नहीं करती।

निमित्त की अपेक्षा अग्नि, बर्तनसहित पानी को गर्म करती है क्योंकि यदि पानी, बर्तन में न हो तो अग्नि, पानी को गर्म नहीं करेगी, बल्कि पानी ही अग्नि को ठण्डा कर देगा। जबकि उपादान की अपेक्षा एक द्रव्य दूसरे का कुछ नहीं करता, अतः अग्नि भी पानी को गर्म नहीं कर सकती।

38. परमाणु कथंचित् निरवयव है, कथंचित् सावयव।

परमाणु के और अधिक टुकड़े नहीं हो सकते, इसलिए यह निरवयव है, जबकि परमाणु में भी ऊर्ध्व, मध्य और अधोभाग पाये जाते हैं, इसलिए वह भी सावयव है क्योंकि दो परमाणुओं में देशस्पर्श भी होता है, यदि उनमें देशस्पर्श न हो तो स्थूल स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

39. चार द्रव्य, कथंचित् परिणामी हैं, कथंचित् अपरिणामी।

अर्थपर्याय की दृष्टि एवं पर्यायार्थिकनय से चार द्रव्य भी परिणामी या अनित्य हैं, जबकि विभावव्यंजनपर्याय की दृष्टि एवं द्रव्यार्थिकनय से चार द्रव्य अपरिणामी या नित्य हैं।

40. पर्यायों का प्रतिसमय कथंचित् नाश होता है, कथंचित् नहीं होता।

सूक्ष्मपर्यायों का तो प्रतिसमय नाश होता है, जबकि स्थूल पर्यायों का प्रतिसमय नाश नहीं होता, जैसे, अकृत्रिम चैत्यालय, सुमेरु पर्वत आदि।

41. कथंचित् असत् का उत्पाद होता है, कथंचित् नहीं होता।

द्रव्य में जो पर्याय पहले नहीं होती, उसी का उत्पाद होता है, अतः असत् का उत्पाद हुआ; जबकि द्रव्य में उस समय जिस पर्यायरूप परिणमने की योग्यता होती है, द्रव्य उसरूप ही वह परिणामता है, अतः असत् का उत्पाद नहीं हुआ, सत् का ही उत्पाद हुआ।

42. आत्मा में रागादिभाव, कथंचित् निश्चय से हैं, कथंचित् व्यवहार से।

आत्मा के अस्तित्व में ही विभावभावरूप रागादिभाव हुए हैं, अतः वे अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के हैं, जबकि वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, अतः उन्हें व्यवहार से आत्मा के कहा जाता है। कहा है–**कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो** अर्थात् एक ओर से देखो तो कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखो तो शान्ति उछलती है।

43. कौआ कथंचित् काला है, कथंचित् काला नहीं है।

कौआ, बाह्य शरीर के रंग की अपेक्षा तो काला है, जबकि उसके खून, माँस आदि को देखें तो वह काला नहीं है।

44. हवा, कथंचित् अग्नि को बढ़ाती है, कथंचित् बुझाती है।

यदि संयमितरूप से अग्नि के सामने हवा करें तो वह अग्नि को बढ़ाती है, जबकि थोड़ी अग्नि के सामने बहुत तेज हवा करो उससे अग्नि बुझ जाती है।

45. दूध पीना, कथंचित् हितकारी है, कथंचित् हितकारी नहीं है।

सामान्यतः दूध को पुष्टिकारक होने से हितकारी कहा जाता है। जबकि किसी को दूध पीने से दस्त लगते हैं, अतः उनकी दृष्टि से दूध

पीना हितकारी नहीं है।

46. सूर्य कथंचित् उदित या अस्त होता है, कथंचित् नहीं होता।

हमें दिखने और नहीं दिखने की अपेक्षा हम कहते हैं कि सूर्य का उदय या उसका अस्त हुआ, जबकि सूर्यबिम्ब तो सदा विद्यमान रहता है, उसका उदय या अस्त नहीं होता।

47. हमारी आयु, कथंचित् घटती है, कथंचित् बढ़ती है।

लौकिक दृष्टि से उम्र बढ़ने पर हमारी आयु बढ़ती है, जबकि कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से हमारे आयुकर्म के निषेक कम होने से हमारी आयु घटती है।

48. कथंचित् मरण होता है, कथंचित् नहीं होता।

सूक्ष्य पर्यायदृष्टि से प्रत्येक जीव का मरण होता है क्योंकि सूक्ष्मदृष्टि से कोई भी पर्याय स्थिर नहीं है, जबकि द्रव्यदृष्टि से किसी भी जीव का मरण नहीं होता क्योंकि द्रव्य का कभी नाश नहीं होता।

49. कथंचित् विष से मरण होता है कथंचित् जीवन।

यदि कोई मूर्ख, विष का भक्षण करे तो उसका मरण अवश्य होता है, जबकि यदि कोई समझदार वैद्य आदि उसका भक्षण करे तो वह स्वस्थ होता है, उसे जीवन मिलता है।

नोट–यह सम्पूर्ण लेख, पण्डित जवाहरलालजी जैन सिद्धान्तशास्त्री, भिण्डर द्वारा लिखित पुस्तक 'स्याद्वाद' के आधार पर लिखा गया है; अतः हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

आधुनिक विज्ञान में स्याद्वाद का प्रयोग

डॉ. संजय शाह*

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी अद्भुत भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी अद्भुत भाषाशैली का नाम है जिसमें अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्ररूपण होता है। अनेकान्त ज्ञानात्मक है और स्याद्वाद वचनात्मक है। अनेकान्त और स्याद्वाद में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक, अनेकान्त प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। अतः अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता है। परन्तु 'स्याद्वादमंजरी'' में अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा है–

''स्यादिति अव्ययमनेकान्तताद्योतकं ततः स्याद्वादः अनेकान्त-वाद इति यावत्॥''

वस्तुतः स्याद्वाद अनेकान्तात्मक वस्तु तथ्य को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है। जैन दर्शन में स्याद्वाद का सिद्धान्त संपूर्ण दर्शन का मेरूदण्ड है।

आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है कि किसी वस्तु के सभी गुण संपूर्णता में नहीं जाने जा सकते। कुछ न कुछ ऐसी बातें उसमें रह ही जाती हैं जो हम नहीं जान सकते। इसलिए पूर्णव्यापी ज्ञान पर विश्वास कर सर्वव्यापी सत्य की सतह पर हम बहुत देर तक टिके नहीं रह सकते हैं। इधर कुछ ही दिनों पहले अमेरिका ने भी एकान्तवाद का तीव्र विरोध किया है। जैन विद्वानों ने भी एकान्तवाद की उपेक्षा कर अनेकान्तवाद का समर्थन किया है जिसे हम स्याद्वाद के नाम से पुकारते

---

* व्याख्याता, राजकीय आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, गनोड़ा, बांसवाड़ा (राज.)

हैं। अतः जैन विद्वानों की इस सूझ का ऋण पाश्चात्य दर्शन पर पड़ा हुआ है।

सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता का उसकी अल्पता का पूरा भान था। इस मर्यादा को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहता था कि मैं ज्ञानी हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे ज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे अज्ञ हैं।

प्लेटो ने इस स्याद्वाद का निरूपण विस्तार से किया है। उसने कहा है कि हम लोग महासागर के किनारे खेलने वाले उन बालकों के समान है जो अपनी सीपियों से सागर के पूरे पानी को नापना चाहते हैं। वह उस सागर के पानी का ही एक अंश है, इसमें कोई संशय नहीं। उसने और भी कहा है कि भौतिक पदार्थ संपूर्ण सत् और असत् के बीच अर्धसत् जगत् में रहते हैं।

जैनों की तरह प्लेटो ने भी जगत को सत् असत् कहते हुए यह समझाया कि वृक्ष, पक्षी अथवा मनुष्य आदि हैं अथवा नहीं हैं अथवा एक समय में हैं अथवा नहीं हैं अथवा एक समय में हैं और दूसरे समय में नहीं हैं अथवा न्यून या अधिक हैं अथवा परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। वे सत् और असत् दोनों में मिश्रण रूप में हैं अथवा सत् और असत् के बीच में हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार नित्य वस्तु का आकलन अथवा पूर्ण आकलन सायन्स (विद्या) और असत् अथवा अविद्यमान वस्तु का आंकलन अथवा संपूर्ण अज्ञान नेस्यन्स (अविद्या) है किन्तु इन्द्रियगोचर जगत सत् और असत् के बीच का है। इसके लिए उसने ओपिनियन (Opinion) शब्द का प्रयोग किया है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नौलेज (Knowledge) का अर्थ पूर्ण ज्ञान है। और (Opinion) का अर्थ अंश ज्ञान है। उसने Ooubuib की व्याख्या सम्भावना विषयक विश्वास (Trust in probablities) भी की है। अर्थात् जिस व्यक्ति में अपने अंशज्ञान या अल्प ज्ञान का मान जगा हुआ होता है, वह नम्रता से पद-पद पर कहता है कि ऐसा

होना भी सम्भव है मुझे ऐसा प्रतीत होता है। स्याद्वादी जिद्‌दी की तरह यह नहीं कहता है कि मैं ही सच्चा हूँ और बाकी सब झूठे हैं।

I am essentially a man of compromise because I am never sure I am right अर्थात् मैं स्वभाव से ही समझौता पसन्द व्यक्ति हूँ। मैं ही सच्चा हूँ, ऐसा मुझे कभी विश्वास नहीं होता।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग होता है, उस विचार की सत्यता उसके प्रसंग पर भी निर्भर करती है। किसी विचार के प्रसंग में स्थान, काल, गुण इत्यादि बहुत-सी बातें छिपी रहती हैं और उन सभी का प्रभाव विचार प्रसंग पर पड़ता है, जिसके बल पर ही उनकी सत्यता प्रकट की जाती है। किसी विचार परामर्श के लिए उन सभी बातों की व्याख्या आवश्यक नहीं है। उनकी संख्या भी बहुत है। इसलिए सभी को जानना भी सम्भव नहीं है। इसी आशय की बात बहुत-से पाश्चात्य दार्शनिक भी कहते हैं और वे लोग किसी वाक्य के पीछे ''स्यात्'' शब्द का जोड़ना बहुत ही युक्तिसंगत समझते हैं।

जगत् के प्रत्येक पदार्थ में स्याद्वाद दिखाई देता है। आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। एक ही अणु में जहाँ आकर्षण शक्ति विद्यमान है, वहाँ विकर्षण शक्ति भी अपना समान अस्तित्व रखती है। उसमें जहाँ संहारकारी शक्ति विद्यमान है वहीं उसमें स्थित निर्माणकारी शक्ति भी अपना परिचय दे रही है।

जल हमारे जीवन का प्रमुख आधार है। उसके पीने से हमारी प्राण रक्षा होती है। वही जल तैरते समय गुटका लग जाने से जानलेवा सिद्ध होता है। अग्नि हमारे लिए बहुत उपकारक है, यह सभी जानते हैं। वह हमारे भोजन आदि के निर्माण में सहायक होती है। किन्तु वही अग्नि जब किसी मकान में लग जाती है, तब वह कितनी संहारक होती है, कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार एक ही अग्नि में पाचकत्व और दाहकत्व जैसे दो विरोधी धर्म हमें दिखते ही हैं। जिस भोजन से हमारी क्षुधा दूर होती है, जो भोजन भूखे का प्राणरक्षक होता है, वही

भोजन किसी अजीर्णग्रस्त रोगी के लिए विष साबित होता है। विष जो हमारे प्राणों का घातक है वही वैद्यों द्वारा कभी-कभी औषधि के रूप में दिया जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु अमृत और विष दोनों है।

एकान्तवादियों को यह बात समझ में नहीं आ सकती। वे कहते हैं कि इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने पर विरोध उपस्थित होता है। लेकिन विरोध देखने वालों की दृष्टि में हो सकता है, विरोध वस्तु में नहीं है। वस्तु तो अनेक विरोधी धर्मों का अविरोधी आश्रय-स्थल है। विरोध तो तब होता है जब अग्नि को जिस दृष्टि से पाचक कहा जाए उसी दृष्टि से दाहक कहते हैं, किन्तु जब परस्पर विरोधी धर्मों का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सापेक्ष कथन किया जाता है तब विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती। सब कुछ सापेक्ष ही है।

जमणेगधम्मणो वत्थुणो तदंसे च सव्वपडिवत्ती।
अंध व्व गयावयवे तो मिच्छाद्दिट्ठिणो वीसु॥
–समणसुत्तं गाथा - 731

जैसे हाथी के पूँछ, पैर, सूँड़ आदि टटोलकर एक-एक अवयव को ही हाथी माननेवाले जन्मान्ध लोगों का अभिप्राय मिथ्या होता है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंश को ग्रहण करके 'हमने पूरी वस्तु जान ली है' –ऐसी प्रतिपत्ति करनेवालों का उस वस्तुविषयक ज्ञान मिथ्या होता है।

समस्याओं के समाधान में स्याद्वाद की भूमिका

–डॉ. ममता जैन*

दर्शन के क्षेत्र में अनेक सिद्धांत प्रसिद्ध हैं। इन सिद्धान्तों के विषय में दार्शनिकों में काफी विचार-विमर्श चला करता है, इसलिए दार्शनिकों के मध्य ये सिद्धांत जीवित रहते हैं। वर्तमान समय में इस बात पर भी विचार किया जा रहा है कि इन दार्शनिक सिद्धांतों के माध्यम से क्या हमारे परिवार, समाज और राष्ट्र की समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है? यह बात सही है कि सभी भारतीय दर्शनों का मुख्य उद्देश्य जीवन के दु:खों से आत्यंतिक निवृत्ति तथा परम नि:श्रेयस मोक्ष की प्राप्ति रहा है। यही कारण है कि कई पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन पर पलायनवादी होने का भी आरोप लगाया है। इसीलिए दर्शन के मुख्य सिद्धांतों के उस पक्ष को उजागर करना भी हमारा कर्तव्य बन जाता है, जिससे व्यक्ति तथा समाज की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान भी निकलते हैं, इसे दर्शन के प्रयोग कहा जाता है।

अनेकान्त स्याद्वाद भारतीय दर्शन का एक ऐसा ही गंभीर तथा रोचक विषय है जिसके माध्यम से हम चाहें तो व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की कई बड़ी-बड़ी समस्याओं के समाधान प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु का जैसा स्वभाव है वह तो अपरिवर्तनीय शाश्वत है सर्वत्र व सर्वदा। पदार्थ का स्वरूप एक स्वरूप ही रहता है। पदार्थ के कारण मत-मतान्तर या वाद-विवाद या समस्याऐं नहीं हैं। जितनी भी समस्याएँ हैं, वह वस्तु-स्वरूप के समझने व समझाने की समीचीन पद्धति के अभाव में है।

---

* अध्यापिका, अरावली महाविद्यालय, ध्रुवधाम, कूपड़ा, बांसवाड़ा, (राज.)

पदार्थ जैसा है यदि उसी रूप में, उतना ही वैसा ही देखा नहीं गया तो समझने में विकृति विवाद उत्पन्न होगा और विसंवाद भी होगा।

प्रश्न हो सकता है कि पदार्थ यदि अनंत विशेषताओं से, धर्मों से रचित है तो उन सब विशेषताओं, धर्मों का प्रतिपादन एक साथ कैसे संभव है। यह समस्या आज की नहीं, शाश्वत है, क्योंकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक अनंतधर्मात्मक है, पर वाणी में अनंत धर्मों का प्रतिपादन एक साथ कर पाने की सामर्थ्य नहीं है। अतः भारतीय दर्शन में अकलंक ने वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने हेतु एक विशिष्ट शैली स्वीकृत की है 'स्याद्वाद'। यह 'स्याद्वाद' वस्तु के संबंध में अपने द्वारा प्रतिपादित कथन को तो दृढ़ता के साथ स्वीकारता ही है परन्तु उसके विरोधी कथन का भी सर्वथा नकार नहीं करता, क्योंकि स्याद्वादी ऐसा स्वीकारता है कि अन्य अपेक्षा, दृष्टिकोण से वस्तु का स्वरूप अन्य प्रकार भी है। यथा जिस पदार्थ को नित्य स्वीकारा गया है वही पर्यायापेक्षा अनित्य भी है, जो एक है, वह अनेक भी है।

आज जितनी भी पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक समस्याऐं हैं उनकी जड़ इस स्याद्वाद को स्वीकार न करने के कारण ही हैं। मात्र स्वपक्ष का पोषण व परपक्ष का सर्वथा शोषण यह एकान्तवाद है, झगड़े का मूल है, समस्याओं की जड़ है। अतः किसी भी समस्या का समाधान स्याद्वाद अनेकान्त के द्वारा किया जा सकता है। कहा भी है– हर विवाद का हल हो सकता स्याद्वाद के द्वारा।' क्योंकि विरोधी विचारों का समन्वय किये बिना लौकिक जीवनयात्रा भी नहीं बन सकती है। विरोधी विचार में समन्वय के अभाव में सदा विवाद और संघर्ष होते रहेंगे तथा विवाद और संघर्ष का अंत तभी होगा जब स्याद्वाद के अनुसार अपने-अपने दृष्टिकोण के साथ दूसरों के दृष्टिकोण का भी आदर करेंगे। स्याद्वाद का सिद्धांत सुव्यस्थित और व्यावहारिक भी है। यह सदाकाल व्यवहार में उपयोगी है। इसके बिना किसी भी

प्रकार का लोक व्यवहार नहीं चल सकता है। लोक में जितना भी व्यवहार है वह सब अपेक्षित होता है और आपेक्षिक वाक् व्यवहार का नाम ही स्याद्वाद है। कहा गया है—

जेण विणा लोकस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥

सारा व्यवहार स्याद्वाद के द्वारा संचालित हो रहा है इसलिए जीवन के व्यावहारिक पहलुओं से जुड़ी समस्याओं का समाधान भी हम स्याद्वाद अनेकान्त के आलोक में प्राप्त कर सकते हैं। परिवार में जो जवानी के जोश में पुत्र द्वारा किया जा रहा वाक्व्यवहार उसकी परिस्थिति के अनुसार सत्य हो सकता है पर पिता के अनुभवों से उत्पन्न कथन भी असत्य नहीं हैं, उन्हें भी समझना व स्वीकारना आवश्यक है। इन सापेक्ष कथनों की सहज स्वीकृति हो तो परिवार में किसी भी प्रकार की समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती।

जब व्यक्ति को यह अभिमान हो जाता है कि मैं बहुत धनवान हूँ तो स्याद्वाद कहता है कि मेरी शरण में आओ, मन शान्त हो जाएगा। व्यक्ति कथंचित् निर्धन भी है अर्थात् विश्व के सबसे बड़े धनी की अपेक्षा तो तू कुछ भी नहीं है। उसकी वार्षिक आयकर राशि जितनी तो तेरी कुल संपत्ति भी नहीं है। स्याद्वाद की दृष्टि के चिन्तनमात्र से ही व्यक्ति को पर्याप्त तसल्ली मिलती है और अभिमान शान्त हो जाता है। पारिवारिक समस्या के साथ ही सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। जैसा व्यक्ति होगा वैसा ही समाज होगा। अर्थात् कहा जाता है कि व्यक्ति का वास्तविक अस्तित्व समाज में ही संभव है। इसलिए अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। व्यक्ति और समाज ये दो वास्तविकताएं हैं। मनुष्य समाज में प्रवेश लेने से पूर्व व्यक्ति विशेष है। एक विचारधारा कहती है कि व्यक्ति सर्वोपरि है तो दूसरी विचारधारा कहती है कि समाज ही मुख्य है। अनेकान्त स्याद्वाद व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध की सापेक्ष व्याख्या करता है। व्यक्ति में वैयक्तिकता और सामाजिकता इन दोनों के मूल तत्त्व सन्निहित हैं। समाज में भी सामाजिकता एव वैयक्तिता दोनों के लिए तत्त्व सन्निहित है। अत: व्यक्ति

और समाज एक भी है और भिन्न भी है। व्यक्ति का आधार संवेदन और समाज का आधार विनिमय है। संवेदन का विनिमय नहीं हो सकता और विनिमय का सबको समान संवेदन नहीं हो सकता। व्यक्ति अथवा समाज में से एक को मुख्यता देने से समस्या पैदा होती है। स्याद्वाद के आधार पर व्यक्ति और समाज की समान एवं सापेक्ष मूल्यों की स्वीकृति ही इन समस्याओं से मुक्ति प्रदान करती है।

सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत एक और समस्या है—वर्णव्यवस्था यह भारतीय समाज की स्वीकृत सच्चाई है, पर आज इसका विकृत रूप हमारे सामने है। इस व्यवस्था में छुआछूत ऊँच-नीच की भावना से समस्या उत्पन्न हुई है। स्याद्वाद के अनुसार यह व्यवस्था गलत नहीं है। वर्णव्यवस्था तो समाज के श्रम का विभाजन है। मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान बनता है। जाति के आधार पर मनुष्य छोटा-बड़ा नहीं हो सकता। इस समस्या का समाधान भी स्याद्वाद के आलोक में खोजा जा सकता है।

सामाजिक समस्याओं में एक और प्रमुख समस्या है—शिक्षा। समाज को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनती है—शिक्षा। शिक्षा हितकारी कार्यकारी होगी तो समाज भी बदलेगा। शिक्षा का उद्देश्य तो चरित्र-निर्माण है पर आज की शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति में असहाय एवं अक्षम है। इस शिक्षा के द्वारा व्यक्ति का शारीरिक व बौद्धिक विकास तो बहुत किया जा रहा है किन्तु मानसिक व भावनात्मक विकास को उपेक्षित कर दिया गया है। आज का जीवन मूल्यों से विपरीत दिशा में जा रहा है। झूठ मत बोलो, झगड़ा मत करो, पढ़ाया तो जा रहा है, पर वातावरण इसके विपरीत हो रहा है। आज की शिक्षा में शारीरिक, बौद्धिक विकास के सूत्रों को अनेकान्त नकारता नहीं है, बल्कि उत्पन्न होने वाली समस्या का समाधान भी करता है।

समस्याओं के क्षेत्र में एक समस्या राजनीतिक भी है। राजनीति में विचारधाराओं में पक्ष-प्रतिपक्ष होता है। वस्तु का अस्तित्व विरोधी धर्मो के बिना होता ही नहीं है। एक ही वस्तु में विरोधी युगलों का रहना यह

स्याद्वाद है। आज जो शान्तिपूर्ण सौहार्द्र की बात कही जाती है वह स्याद्वाद का ही सिद्धान्त है। जीवन की विभिन्न दिशाओं में स्याद्वाद आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य सिद्धांत है। एक पूंजीवादी विचारधारा है एक साम्यवादी है। एक एकतन्त्र की प्रणाली है, एक लोकतन्त्र की प्रणाली है। दोनों संसार में चल रही है और परस्पर विरोधी भी है। किन्तु आज एक ही संसद में अनेक विरोधी विचार वाले बैठते हैं, फिर भी उनका लक्ष्य एक है–यह उनका सह-अस्तित्व है। यह ही अनेकान्त स्याद्वाद की भूमिका है।

पारिवारिक, सामाजिक समस्याओं के साथ ही राष्ट्रीय समस्याओं का सामना करना पड़ता है, क्योंकि हमारा सम्बन्ध व्यक्ति, परिवार, समाज के साथ-साथ राष्ट्र से भी जुड़ा रहता है। स्याद्वाद का सिक्का सर्वत्र संसार में चलता है। स्याद्वाद का उपदेश जैन दर्शन को छोड़कर अन्य किसी दर्शन में नहीं है।

विश्वशान्ति व राष्ट्रीय समस्या का समाधान अनेकान्त-स्याद्वाद से ही हो सकता है। जितने भी दर्शन हैं वे किसी न किसी नय की अपेक्षा सत्य हैं। नय भी अपनी-अपनी अपेक्षा वस्तु स्वरूप का अवलोकन करते हैं। पर वे अन्य नयों की बात का अपलाप नहीं करते। इसलिए सम्यग्नय कहलाते हैं। परन्तु जो एकान्त आग्रह को स्वीकार करते हैं वे नयाभास हो जाते हैं। अतः समग्र वस्तु का परिचायक तो अनेकान्त-स्याद्वाद ही है। समस्त एकान्तों का अन्तर्भाव अनेकान्त में हो जाता है। समस्याओं का समाधान करना, सत्य का प्रतिपादन करना–यह क्षमता स्याद्वाद की ही है। यह अंधकार से प्रकाश लाने वाला है। यह विश्वतत्त्व-प्रकाशक दिव्य चक्षु है जिससे निश्चित ही विश्व में शांति हो सकती है।

अनेकान्त-स्याद्वाद का स्वरूप : आचार्य महाप्रज्ञ के विशेष संदर्भ में

–डॉ. योगेश कुमार जैन*

भारतीय चिंतन की धारा में धर्म और दर्शन दोनों का प्रयोग संयुक्त रूप से होता रहा है। प्रत्येक प्राणी का जीवन व्यवहार धर्म से शासित होता है तथा धर्म को मार्गदर्शन दर्शन से प्राप्त होता है। दर्शन के द्वारा तत्त्व प्रतिपादित होते हैं तथा धर्म क्रियान्विति करता है, अर्थात् हेय को छोड़ता है और उपादेय का अनुशीलन करता है। अनेकान्त एवं स्याद्वाद दर्शन के अभिन्न अंग हैं। अनेकान्त का दर्शन के क्षेत्र में जितना उपयोग हुआ उसका दशांश भी व्यवहार के क्षेत्र में नहीं हुआ है। इसका कारण दर्शन की एकांगी धारा का प्रभाव ही है। प्राय: सभी ने दर्शन को शाश्वत सत्य की व्यवस्था तक ही सीमित रखा है। परिवर्तनशील व्यवहार की व्याख्या में दर्शन का उपयोग नगण्य ही रहा है।

समस्त जागतिक पदार्थों की व्याख्या के संदर्भ में जैनदर्शन का दृष्टिकोण अन्य दार्शनिकों से सर्वदा भिन्न ही रहा है। जैनदर्शन ने अनेकांत दृष्टि से विश्व के समस्त पदार्थों को देखा तथा स्याद्वाद शैली में उन पदार्थों की व्याख्या की, अत: जैनदर्शन न द्वैतवादी बना और न ही अद्वैतवादी, अपितु जैन दर्शन की धारा स्वतंत्र रूप से विकसित हुई।

अनेकांतदृष्टि अनंत नयों की समष्टि है तथा कोई भी एक नय वस्तु की पूर्ण व्याख्या न कर सकने के कारण पूर्ण सत्य नहीं हो सकता और न ही असत्य। सभी नयवाक्य सापेक्ष होकर सत्य होते हैं और

* सहायकाचार्य, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राज.)

निरपेक्ष होकर असत्य हो जाते हैं। संसार में व्याप्त समस्त मतवादों का कारण ज्ञान एवं अभिव्यक्ति की अपूर्णता ही है। कोई दर्शन वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है तो कोई अन्य एक ही प्रतिपादन करता है। अत: विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है। इस विरोधात्मक स्थिति का शमन अनेकांत दृष्टि से ही किया जा सकता है। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है कि अनेकांत दृष्टि और अहिंसा में अभिन्नता है। अत: आधुनिक विचारक अनेकांत को बौद्धिक अहिंसा कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा की व्याख्या सभी दर्शनों ने की है परन्तु बौद्धिक अहिंसा या अनेकांत सिद्धान्त का प्रतिपादन नई दिशा का उद्‌घाटन है।

संसार के सभी दर्शनों का विकास आप्त पुरुषों द्वारा दृष्ट तत्त्वों की व्याख्या के संदर्भ में ही हुआ है। जैनदर्शन का विकास पांच अस्तिकायों के प्रतिपादन के निहितार्थ में हुआ है। तीर्थंकरों एवं आचार्यों ने पंचास्तिकाय की व्याख्या के लिए जिस प्रणाली का आश्रय लिया, वह प्रणाली तीन रूपों में विख्यात है–1. नयवाद, 2. स्याद्वाद तथा 3. अनेकांतवाद। इन तीनों का संबंध श्रुतज्ञान से है। श्रुतज्ञान का उपयोग स्वार्थ और परार्थ दोनों दिशाओं में होता है। नय, स्याद्वाद और अनेकांत जब स्वार्थ होते हैं तब उनका स्वरूप ज्ञानात्मक होता है और जब वे परार्थ होते हैं तो इनका स्वरूप प्रतिपादनात्मक बन जाता है।

अनेकांत शब्द-रचना की दृष्टि से निषेधात्मक है किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से वह निषेधात्मक नहीं है। अनेकांत द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता का वाचक है। संसार में केवल द्रव्य और केवल पर्याय की सत्ता संभव नहीं है, क्योंकि सत् का स्वरूप अनेकान्तात्मक है तथा उसे समझने के लिए एकांत की आवश्यकता नहीं है। यहाँ अनेक का अर्थ एक से अधिक है परन्तु अधिक का तात्पर्य अनिश्चित या अनन्त नहीं है। सत् त्रिलक्षणात्मक है, इसलिए अनेक का अर्थ अनिश्चित नहीं है, सत् केवल पर्याय की अनन्तता का वाचक नहीं है, अत: अनेक का अर्थ अनन्त नहीं है। पर्याय क्रमभावी धर्म है। एक द्रव्य में एक साथ

अनन्त पर्यायों का होना संभव नहीं है, क्योंकि पर्यायों का आविर्भाव युगपत् नहीं होता।

अनेकांत का उद्‌भव द्रव्य-पर्यायार्थिक दोनों नयों की सापेक्षता पर हुआ है। तथा इस सापेक्षता की अभिव्यक्ति का सूचक ही स्याद्वाद है। अनेकांत में नित्य-अनित्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि विकल्प बनते हैं। इन विकल्पों की एकता स्याद्वाद के द्वारा प्रमाणित होती है। दर्शन-जगत में अनेकांत को तत्त्वमीमांसा का सिद्धान्त, स्याद्वाद को तार्किक सिद्धान्त तथा नयवाद को ज्ञान-मीमांसा का सिद्धान्त माना जाता है। यथार्थ में ये तीनों ही सिद्धान्त ज्ञान-मीमांसा के अंग हैं तथा इनका संबंध श्रुतज्ञान से है।

अनेकांत की व्याख्या के संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मन्तव्य है कि जैनदर्शन के कुछ मौलिक सूत्रों को जाने बिना अनेकांत की पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती। अनेकांत का मूल प्रतिपाद्य विषय नित्यानित्यवाद है। विश्व एवं द्रव्य की व्याख्या केवल नित्य एवं केवल अनित्य के आधार पर नहीं की जा सकती। जैन दर्शन के अनुसार कोई द्रव्य नित्य एवं कोई अनित्य—ऐसा विभाग नहीं है अपितु प्रत्येक द्रव्य का एक अंश ध्रौव्य होने से नित्य है तथा दूसरा अंश पर्याय होने से अनित्य है।

अनेकांत ज्ञानात्मक है तथा अनेकांतात्मक द्रव्य ज्ञेयात्मक है। अनेकांत का आधार सत् है। द्रव्य में उत्पन्न होने वाली पर्याय व्यावहारिक सत्ता है तथा द्रव्य पारमार्थिक सत्ता है, किन्तु द्रव्य-पर्याय दोनों संयुक्त रूप से हैं, उनको स्वतंत्र नहीं देखा जा सकता। सत् के प्रतिपादन हेतु स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का प्रयोग अनिवार्य है। अनेकांत का सिद्धान्त अन्य मत-मतान्तरों के एकांतवाद के प्रतिपादन के लिए नहीं है अपितु उसका उद्‌भव सत्य स्वरूप की मीमांसा के लिए हुआ है। सत् की मीमांसा द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक—इन दो नयों के द्वारा होती है। नयात्मक दृष्टि एकांत की प्रतिपादक है तथा एकांत का विरोध करना अनेकांत का कार्य नहीं है। सापेक्ष एकांतदृष्टि अनेकांतसम्मत है। अनेकांत के द्वारा केवल निरपेक्ष दृष्टि की ही समीक्षा की गई है।

अनेकांत में अनेकांत की मीमांसा करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्र में तीर्थंकर अरनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आपके शासन में अनेकांत में भी अनेकांत का प्रतिपादन किया गया है जो कि न्याय व्यवस्था का परिचायक है। यथा–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात्॥

अर्थात् हे अर जिन! आपके मत में अनेकांत भी प्रमाण और नयरूप साधनों की अपेक्षा से अनेकान्तरूप है। वह प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्तरूप है तथा विविक्षित नय की अपेक्षा से एकान्तरूप है। यहां यह दृष्टव्य है कि अनेकान्त जब एकान्तरूप होता है तब वह सर्वथा एकान्तरूप न होकर कथंचित् एकान्तरूप होता है। एकान्त दो प्रकार का होता है–सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। परस्पर सापेक्ष धर्मों में से विवक्षित किसी एक धर्म का कथन करना सम्यक् एकान्त है तथा अन्य समस्त धर्मों का निराकरण करके विवक्षित किसी एक धर्म को ही स्वीकार करना मिथ्या एकान्त है। अनेकान्त जब एकान्तरूप होता है तब वह सम्यक् एकान्तरूप होता है, मिथ्या एकान्त नहीं। इस प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्त की सिद्धि होती है। अनेकान्त प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त है तथा विवक्षित नय की अपेक्षा से एकान्त है।

जैन आगम साहित्य में विशेषतः आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पंचास्तिकाय में स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का प्रतिपादन करने वाली गाथा प्राप्त होती है, यथा–

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥ (गाथा 14)

आचार्य समन्तभद्र के पूर्व 'सिया अत्थि दव्वं सिया णत्थि दव्वं' के रूप में स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु निश्चित व्याख्या, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भावैकांत, अभावैकांत आदि अनेक एकांतों में सप्तभंगी का प्रयोग तथा युक्ति के बल पर वस्तु

को अनेकांतात्मक सिद्ध करना आचार्य समन्तभद्र की विशेष उपलब्धि है। स्यात् शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने अठारहवें तीर्थंकर अरजिन की स्तुति करते हुए स्वयंभूस्तोत्र में किया है। वे कहते हैं कि–

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्।। (18/17)

अर्थात् सर्वथारूप नियम का त्याग करने वाला और प्रमाणसिद्ध वस्तु स्वरूप की अपेक्षा रखने वाला स्यात् शब्द आपके न्याय में ही है, अन्य स्वमत के विरोधियों में नहीं है।

जैनदर्शन के चिंतन की शैली का नाम अनेकांत है तथा प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद का उद्गम अनेकांत से ही हुआ है। अनेकांत के द्वारा वस्तु का यथार्थ ग्रहण होता है तथा स्याद्वाद उस ग्रहीत वस्तु को वाणी के द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। स्याद्वाद के द्वारा निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से विरोधी धर्मयुगलों का विरोध स्वतः समाप्त हो जाता है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, परन्तु जिस रूप में सत् है उसी रूप में असत् नहीं है। स्व रूप की अपेक्षा सत् है तथा पर रूप की अपेक्षा असत् है। स्याद्वाद को अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

उपसंहार–जैन धर्म और अहिंसा को परस्पर पर्यायवाची बताते हुये आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा का व्याख्यान सभी धर्मों में अनेकानेक धाराओं से विवेचित है। परन्तु बौद्धिक अहिंसा के संदर्भ में भगवान महावीर से प्राप्त अनेकान्त दृष्टि के कारण ही जैन धर्म के साथ अहिंसा का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। अहिंसा के साथ ही अनेकान्त और स्याद्वाद भी जैन धर्म-दर्शन के पर्याय के रूप में आज सम्पूर्ण विचारशील विश्व में जाने जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख जैनाचार्यों के चिन्तन में स्याद्वाद

–रामनरेश जैन*

अनेकान्त जैन दर्शन का हृदय है। सकल जैन साहित्य अनेकान्त के रूप में कथित है। अनेकान्त–स्याद्वाद को समझे बिना जैनदर्शन को समझ पाना तो दूर, उसमें प्रवेश पाना भी कठिन है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तुतत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है।

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है, वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक गुण धर्म व्याप्त हैं, एकान्त दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते हैं। वस्तुतत्त्व के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है और वह अनेकान्त दृष्टि अपनाने पर ही संभव है।

बीसवीं शताब्दी के जैनाचार्यों ने भी अनेकान्त–स्याद्वाद के माध्यम से समग्रतापूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया है। आचार्य ज्ञानसागर कहते हैं–

अनेकशक्त्यात्मकवस्तुतत्त्वं तदेकया संवदतोऽन्यसत्त्वम्।
समर्थयत्स्यात्पदमत्र भाति स्याद्वादनामैवभिहोन्ति जाति।।[1]

अर्थात् वस्तु तत्त्व अनेकशक्त्यात्मक है, अनेक शक्तियों का पुञ्ज है। जब कोई मनुष्य एक शक्ति की अपेक्षा से उसका वर्णन करता है तब वह अन्य शक्तियों के सत्त्व का अन्य अपेक्षाओं से समर्थन करता ही है। इस अन्य शक्तियों की अपेक्षा को जैन सिद्धान्त स्यात् पद से

---

* शोधछात्र, प्राकृत एवं संस्कृत विभाग, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राज.)

प्रकट करता है। वस्तुतत्त्व के कथन में इस स्यात् अर्थात् कथञ्चित् पद के प्रयोग का नाम ही स्याद्वाद है। इसे ही कथञ्चित् वाद या अनेकान्तवाद भी कहते हैं। आचार्य तुलसी कहते हैं[2]– एक वस्तु में अनेक विरोधी का स्वीकार ही अनेकान्त है। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जिसका एक ही रूप हो, अनेक विरोधी रूपों का बोध अनेकान्त दृष्टि द्वारा ही संभव है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते है[3]– अनेकान्त शब्द रचना की दृष्टि से निषेधात्मक है किन्तु पर्याय की दृष्टि से वह निषेधात्मक नहीं है। अनेकान्त द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता का वचन है। अनेक का अर्थ एक से अधिक है, पर उसका अर्थ अनिश्चित या अनन्त नहीं है। आचार्य देवेन्द्र मुनि कहते हैं[4]– अनेकान्तवाद जैनपरम्परा की एक विलक्षण सूझ है जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने में सहायक है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद की महिमा बताते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं[5]– भारतीय साहित्य में स्यादवाद अनेकान्तवाद और सापेक्षवाद के बिना शुरूआत ही नहीं हो सकती और न ही हम वक्ता लोग बिना सापेक्षवाद के किसी को कुछ बता सकते हैं।

स्याद्‌वाद यह स्यात् + वाद इन दो शब्दों से मिलकर बना है। स्याद् यह शब्द निपात अव्यय है, वाद कथन करने मान्यता आदि धर्मो के रूप में ज्ञान होता है। स्यात् शब्द तिङ्न्त प्रतिरूपक प्रत्यय है। इसके प्रशंसा अस्तित्व विवाद विचारणा अनेकान्त संशय प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैनदर्शन में इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में होता है। स्याद्‌वाद अर्थात् अनेकान्तात्मक वाक्य। स्याद्ववाद अनेकान्त दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है।[6]आचार्य तुलसी कहते हैं[7]–अनन्त धर्मात्मक द्रव्य का किसी एक धर्म के माध्यम से प्रतिपादन करना स्याद्‌वाद है, समग्र द्रव्य के प्रतिपादन का नाम स्याद्‌वाद है। आचार्य देवेन्द्रमुनि कहते है–[8] स्याद्वाद पद का अर्थ हुआ सापेक्ष सिद्धान्त, अपेक्षावाद, कथंचित्‌वाद या वह सिद्धान्त जो विविध दृष्टिबिन्दुओं से वस्तुत्व का निरीक्षणपरीक्षण करता है। आचार्य विद्यानन्द कहते हैं[9]– अनेकान्त की अभिव्यक्ति को स्याद्वाद कहते हैं। इसको सापेक्षवाद भी कहते हैं। जैसे कमण्डलु है उसे घड़ा कहना सत्य भी है और असत्य भी है।

अनन्तधर्मात्मक वस्तुत्व की सिद्धि एकान्तदृष्टि से सम्पन्न नहीं होती, अपितु अनेकान्त से ही होती है। प्रत्येक तत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता प्रमाण से भलीभांति सिद्ध होकर विकसित हो रही है। इसलिए एकान्त को मानना तो मूर्खता का स्थान है। विद्वज्जन को ऐसी एकान्तवादिता स्वीकार करने के योग्य नहीं हैं किन्तु अनेकान्त को ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि अनेकान्तवाद की सिद्धि प्रमाण से प्रसिद्ध है।[10] आचार्य देवेन्द्रमुनि कहते हैं–[11] अनेकान्तवाद का आलोक हमें निराशा के अन्धकार से बचाता है। वह हमें ऐसी विचारधारा की ओर ले जाता है जहां सभी प्रकार के विरोधों का उपशमन हो। आचार्य तुलसी कहते हैं[12]–अनेक धर्मों में से जो भी धर्म मुख्य होकर सामने आता है वह उसके आधारभूत द्रव्य को जानने का माध्यम बन जाता है। इस ज्ञान पद्धति में द्रव्य ओर धर्म की अभिन्नता का बोध बना रहता है। द्रव्य और धर्म (पर्याय) सर्वथा अभिन्न नहीं है। उनकी अभिन्नता एक अपेक्षा या एक दृष्टिकोण से सिद्ध है। अनेकान्त दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय का सम्मिलित रूप वस्तु है या यों कहें कि द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायों के अभाव में द्रव्य का और द्रव्य के अभाव में पर्याय का कोई अस्तित्व नहीं है।[13]

वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म

वस्तुतत्त्व सापेक्ष है और स्याद्वाद पद्धति से ही उसका ठीक तरह से प्रतिपादन है तो वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय में भी हमें अनेकान्त को लागू करके देखना होगा। कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म समझ कर एक ही वस्तु में दोनों का समन्वय असम्भव मानते हैं मगर वे भूल जाते हैं कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाये तभी उसमें विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओं से विधान करने में कोई विरोध नहीं होता। जैसे किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि वह मनुष्य है, मनुष्येतर नहीं; भारतीय है, पाश्चात्य नहीं, वर्तमान में है, सदा से या सदा रहने वाला नहीं; विद्वान है, मूर्ख नहीं है तो क्या हम उस व्यक्ति के विषय में परस्पर विरुद्ध विधान करते हैं? नहीं।[14] इसी प्रकार आ. ज्ञानसागर

कहते हैं[15]–

धूकापचान्ध्यं दददेव भास्वान् कोकापशोकवितरन् सुधावान्।
भुवँस्तले किन्न पुनर्धियापि अस्तित्वमेकत्र च नास्तितापि॥

अर्थात सब को शान्ति देने वाला उल्लू को अन्धपना देता है और चन्द्रमा कोक पक्षी को प्रिया वियोग का शोक प्रदान करता है।

फिर बुद्धिमान लोग यह सत्य क्यों न मानें कि एक ही वस्तु में किसी अपेक्षा अस्तित्व धर्म भी रहता है और किसी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी रहता है। आचार्य तुलसी कहते हैं[16]– अस्तित्व और नास्तित्व भी सापेक्ष हैं, वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इसी बात को आचार्य विद्यानन्द कहते हैं–[17] इस विशाल विश्व के अन्दर अनन्तानंत पदार्थ हैं, भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ हैं, उनको हम अनेकान्त के माध्यम से ही समझ सकते हैं, अनेकान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जो सारी समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए स्याद्वाद कहा है। स्याद्वाद सापेक्षवाद है। आचार्य कहते हैं[18] कि जब हम कोई भी बात कहते हैं तो उसके समक्ष एक प्रतिपक्ष खड़ा हो जाता है। जैसे दिन कहों तो रात भी है, पुरुष कहो स्त्री भी है अमृत है तो जहर है, सत्य है तो असत्य है, धर्म है तो अधर्म, हिंसा है तो अहिंसा है, पुण्य है तो पाप है। इस प्रकार दो परस्पर विरोधी तत्त्व अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेंगे। आचार्य उदाहरण से समझाते हैं कि–[19]

हो एक हि पुरुष भानज तात भाई।
देता वही सुत किसी नय से दिखाई।
पै भ्राता तात सुत ओ सबका न होता
हे वस्तुधर्म इस भांति अशान्ति खोता॥

अर्थात् जिस प्रकार एक ही पुरुष किसी अपेक्षा पुत्र, किसी अपेक्षा भाई है, उसी प्रकार वस्तुतत्व में समझना चाहिए। आगे कहते हैं–

ज्यों वस्तु का पकड़ में इक धर्म आता
तो अन्यधर्म उसका स्वयमेव भाता।

वे क्योंकि वस्तुगत धर्म अतः लगाओ
स्यात् सप्तभंग सबमें झगड़ा मिटाओ।।[20]

अर्थात् विविध अपेक्षा वस्तु तत्त्व व्यास्यादि किया गया है किसी अपेक्षा को धारण न करके सम्पूर्ण वस्तुत्व को ग्रहण करना चाहिए एवं स्यात् पद को धारण करके समस्त विकल्पजाल को त्यागना चाहिए।

वैचारिक समन्वयवाद के रूप में

वर्तमानसमन्वयवाद के रूप में देखा जाये तो परस्पर कलह, विद्रोह, ईर्ष्या, वैमनस्य, छोटे-बड़े की भावना आतंकवाद आदि का तांडव देखने को मिलता है। इन समस्त बातों का समाधान अनेकान्त स्याद्वाद को नहीं समझने से है। आचार्य ज्ञानसागर कहते हैं–

संविरोधिषु जनः परस्परं व्यवहारिकवचस्सु संचरन्।
तत्सनुद्धरतु यद्यथोचितं को नु नाश्रयति वा स्वतो हितम्।।[21]

अर्थात् व्यावहारिक नीतिनियमों में कितने ही वचन ऐसे होते हैं जो प्रायः एक-दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं, मनुष्य को चाहिए कि उनमें से जिस वचन को लेकर जीवन निर्वाह हो उस समय उसी को स्वीकार करे अर्थात् जीवन में उपयोगी वचन को ही स्वीकार करे। परस्पर में समन्वय को स्थापित करते हुए कहते हैं–

तुरुक्ताभ्येति कुरानमारादीशपिता वाबिलमेकधारा।
तयोस्तु वेदेऽपमुपैति विप्र स्याद्वाददृष्टान्त इयान सुदीप्रः।।[22]

अर्थात् मुसलमान और ईसाई अपने अपने धर्मग्रन्थ को ही प्रमाण मानते हैं–इस अपेक्षा एक ग्रन्थ एक के लिए प्रमाण है तो दूसरे के लिए अप्रमाण है, किन्तु ब्राह्मण दोनों को ही अप्रमाण मानते हैं और वेद को प्रमाण मानते हैं। इस दृष्टान्त में मुसलमान और ईसाई परस्पर विरोधी होते हुए भी वेद को प्रमाण नहीं मानने में दोनों अविरोधी हैं अर्थात् एक हैं। इस प्रकार एक की अपेक्षा जो ग्रन्थ प्रमाण है वही दूसरे

की अपेक्षा अप्रमाण है, तीसरे की अपेक्षा दोनों ही अप्रमाण है। इस स्थिति को एकमात्र स्याद्वाद सिद्धान्त यथार्थ कहने में समर्थ है, एकान्तवादी सिद्धान्त नहीं।[23] आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं–जगत की जितनी समस्यायें हैं उनको यदि अनेकान्तदृष्टि से विचार करें तो समाधान हो सकता है। वे कहते हैं–समस्या चाहे व्यवहार की हो या अध्यात्म की, समाज की या राजनीति की, सारी समस्या अनेकान्त के आधार पर सुलझाई जा सकती है। एकान्त दृष्टि से समस्यायें सुलझती नहीं, उलझती हैं। आगे कहते हैं कि वैचारिक समन्वय के लिए तटस्थता अवश्य एक विचारक एक दृष्टिकोण को पकड़ कर उसका पक्ष करता है, समर्थन करता है। उसके प्रति राग करता है। दूसरा विचारक दूसरे का पक्ष करता है समर्थन करता है पहला विचार दूसरे का खण्डन करता है और दूसरा विचार पहले का खण्डन करता है। दो विचार एक दूसरे को प्रतिपक्षी मानते हैं, दोनों अपनी दृष्टि से देखते हैं। अपने विचार के प्रति राग और दूसरे के विचार के प्रति द्वेष की ये दोनों आंखे अपना काम करती हैं। जब तक तटस्थता की दृष्टि नहीं जागती तब तक तीसरा नेत्र नहीं खुलता। जैसे ही तीसरा नेत्र खुलता है अपना विचार छूट जाता है। पराया विचार भी छूट जाता है, शेष सच्चाई रह जाती है। व्यक्ति पूर्ण तटस्थता को प्राप्त हो जाता है।[24]

आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि हम अनेकान्तवाद अहिंसा के पथ पर चलने वाले हैं, हमारी भाषा भी स्यादवाद है। पहले तोलो फिर बोलो, बोलने के बाद तोलो तो झगड़ा हो जायेगा। हमारा सिद्धान्त है–अहिंसा और अनेकान्तवाद। अनेकातवाद का मतलब है कि समन्वय करो। उदाहरण देकर समझाते हैं एक बाग में नाना तरह के रंग–बिरंगे फूल होते हैं। जब माली उन फूलों को इकट्ठा करके गुलदस्ता बनाता है तो गुलदस्ता बहुत सुन्दर लगता है। इस दुनिया के अंदर कितनी जातियों के कितने धर्मों तथा सम्प्रदायों के लोग मिल–जुलकर इकट्ठा रहते हैं। तो सब सुन्दर लगते हैं। यदि बिखर जायेंगे तो कोई सुन्दरता नहीं रह जायेगी। दूसरा उदाहण देते हैं कि हमारे सिर में बाल काले हैं, हड्डी सफेद हैं पित्त पीला, नसें नीली, खून लाल और इस तरह से पांच रंग

हैं, इसलिए हम सुन्दर लगते हैं। यदि सब किसी और रंग के हो जैसे खून काला, चमड़ा भी काला तो कैसा विचित्र शरीर दिखाई देगा? इसलिए विविधतापूर्ण दुनियाँ के अंदर जीने के लिए अनेकान्त की जरूरत है।

सन्दर्भ

1. आचार्य ज्ञानसागर, वीरोदय महाकाव्य, 19/8
2. आचार्य तुलसी, आत्मा के आस-पास, पृ 3
3. आचार्य महाप्रज्ञ, जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ 264
4. आचार्य देवेन्द्र मुनि, जैनदर्शनः स्वरूप और विश्लेषण पृ. 231
5. श्रुतपंचमी, आचार्य विद्यानन्द, जैन बोधक, जून 2004
6. आचार्य महाप्रज्ञ, जैनदर्शनः मनन और मीमांसा पृ 67
7. आचार्य तुलसी, राजपथ की खोज, पृ. 67
8. आचार्य देवेन्द्र मुनि, जैनदर्शनः स्वरूप और विश्लेषण, पृ 231
9. आचार्य विद्यानन्द, धर्मदर्शन और अध्यात्म, जैन बोधक, सितम्बर 2008
10. स्वमन्तधर्मता विलसति सर्वतोऽपि तत्वस्य। यूरास्ता खल तायास्तस्मादभिमिति-रेकान्तस्य। प्रसिद्धा न तु विवुधस्य सिद्धिरनेकान्तस्य।
    सुदर्शनोदय महाकाव्य, आ ज्ञानसागर 6/4
11. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, देवेन्द्र मुनि पृ. 233
12. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लषण देवेन्द्रमुनि पृ. 233
13. राजपथ की खोज, तुलसी आचार्य, पृ. 67
14. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, देवेन्द्रमुनि पृ. 241
15. वही, पूर्व. 242
16. वीरोदय महाकाव्य, ज्ञानसागर आचार्य 19/13 पृ. 187
17. राजपथ की खोज, तुलसी पृ. 70
18. धर्मदर्शन एवं अध्यात्म, विद्यानन्द, जैन बोधक, सितम्बर 2008
19. समग्र जैनर गीता विद्यासागर आचार्य 670
20. वही श्लोक 721
21. जयोदय महाकाव्य, ज्ञानसागर आचार्य, 218
22. वीरोदय महाकाव्य, ज्ञानसागर आचार्य 7/10
23. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, महाप्रज्ञ, पृ. 68
24. वही, पृ. 71
25. जैन धर्म में राष्ट्रधर्म बनने की क्षमता है, आ. विद्यानन्द, जैन बोधक, अक्टूबर 2007

स्याद्वाद का व्यापक दृष्टिकोण

–अरिहन्त कुमार जैन*

जैनाचार्यों ने सत्य के साथ सत्य की अभिव्यक्ति का भी अनुसंधान किया। सत्य के साथ जुड़ा हुआ एक बहुत बड़ा सत्य यह भी है कि सत्य बहुआयामी होता है। उसके जितने आयाम या कोण होते हैं उसकी व्याख्या उतने ही तरीकों से की जा सकती है इसलिए जैन दार्शनिकों ने यह माना कि जब हम सत्य की व्याख्या अपनी दृष्टि से कर रहे होते हैं तब सत्य की व्याख्या नहीं होती बल्कि सत्यांश की व्याख्या होती है। 'एकम् सत् विप्रा बहुधा: वदन्ति' जैनाचार्य जानते थे। उन्होंने सत्य को आंशिक रूप से कहने का एक ऐसा तरीका इज़ाद किया जिससे जब भी हम एक पक्ष की व्याख्या करें तब सत्य के अनेक दूसरे पक्षों का कहीं निषेध न हो जायें। इसी पद्धति का नाम उन्होंने स्याद्वाद रखा।

बहुआयामी दृष्टि

मानव का स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण ही उसे सत्य की ओर ले जाता है। ज्ञान और सत्य को जीवन में उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। संपूर्ण विश्व, जीवात्मा, परमात्मा, अदृष्ट, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष आदि सभी दार्शनिक चिंतन के विषय जरूर हैं परंतु सत्य के बहुआयामी स्वरूप को यथार्थ रूप में जानना और उसके समग्र रूप का एक साथ कथन करना अत्यन्त कठिन होता है। इन्द्रियों की क्षमता सीमित है।

हम सभी यह वास्तविकता जीवन में अनुभव करते ही हैं कि एक ही वस्तु में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष

* जे. आर. एफ., दर्शनविभाग, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई

एक–अनेक जैसे परस्पर विरोधी कहे जाने वाले अनेक रूप अथवा गुण या धर्म विद्यमान रहते हैं और इन सभी गुणों या धर्मों को हम एक साथ व्यक्त नहीं कर सकते। यह भी अनुभवगम्य है कि कोई भी शब्द किसी एक वस्तु के केवल एक ही धर्म को आंशिक रूप में ही व्यक्त कर सकता है, क्योंकि सत्य को प्रकाशित करने वाले साधनों की शक्ति सीमित है। व्यक्ति सत्य को एक ही दृष्टि से देखता है जबकि वह दृष्टि परिपूर्ण और यथार्थ नहीं है, क्योंकि मनुष्य की शक्ति सीमित है, जितना वे जानते हैं, उसको उसी प्रकार कथन करते हैं।

यही कारण है कि कलहकारी भ्रमों या विवादों को दूर कर विश्वमैत्री, पारस्परिक सौहार्द, सह–अस्तित्व एवं सौमनस्य पूर्ण भावनाओं को स्थापित करने की दृष्टि से जैन दर्शन का एक अनुपम और विशेष सिद्धान्त विश्व के समक्ष आया, वह है–स्याद्वाद का सिद्धान्त।

स्याद्वाद की भूमिका

'स्याद्वाद' शब्द दो पदों का युग्म है– स्यात् + वाद। यहाँ स्यात् शब्द बड़ा वैज्ञानिक है। यह अनिश्चय अथवा संशय–बोधक नहीं बल्कि सापेक्षता का सूचक है और वाद का अर्थ है कथन करने की प्रक्रिया। इसी कारण स्याद्वाद को 'सापेक्षतावाद' का सिद्धान्त (Theory of Relativity) भी कहा गया है। जैन मत को यदि सापेक्षवाद माना जाय तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा, क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नहीं, बल्कि वस्तुओं के धर्मों पर भी निर्भर है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अलावा राधाकृष्णन् जैसे सर्वमान्य दार्शनिकों ने स्याद्वाद का अनुवाद Theory of Relativity कहके सापेक्षतावाद को स्वीकार किया है। युवाचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार–

'स्याद्वाद का अर्थ है, संभावनाओं का स्वीकार। इसी स्वीकृति का आधार यह है कि स्थूल जगत् में स्थूल पर्याय के आधार पर निर्णय लिया जाता है। प्रश्न होता है, क्या हमारा जगत इतना ही है जितना हम जानते हैं? नहीं। चेतना का सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत् से बहुत बड़ा है।

अभिव्यक्त पर्यायों का सूक्ष्म जगत अभिव्यक्त पर्यायों के जगत् की अपेक्षा बहुत विशाल है। अभिव्यक्त पर्याय अल्प होती है और अनभिव्यक्त पर्याय बहुत अधिक।'

स्याद्वाद : सम्भावनाओं का संसार

भविष्य की संभावनाओं का संसार बहुत विशाल है जो व्यक्ति इन सम्भावनाओं के आधार पर कोई निर्णय ले लेता है, वह निर्णय सही होता है। वर्तमान पर्याय के आधार पर जो निर्णय होता है उसके साथ यह स्पष्ट बोध होना चाहिए कि वह निर्णय वर्तमान स्थूल पर्याय के आधार पर लिया जा रहा है। पर्याय के बदलते ही निर्णय बदल जायेगा। इससे व्यवहार खण्डित नहीं होता वरन् व्यवहार और अच्छे ढंग से चलता है। जैसे एक कर्मचारी है। आज वह ईमानदार है, कल वह धोखा दे सकता है। आज जो धोखेबाज है वह कल ईमानदार भी हो सकता है। हम वर्तमान पर्याय को सार्वभौम मानकर नहीं चल सकते। ससीम को असीम मानकर नहीं चल सकते। सापेक्षता के सूत्र को तोड़कर निरपेक्ष होकर कोई निर्णय नहीं ले सकते। हमें जो निर्णय लेना होता है, वह व्यवहार की भूमिका पर सापेक्षता के आधार पर लेना होता है।

स्याद्वाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि बड़ी उदार रही है। जैन, अन्य दार्शनिकों के विचारों को तुच्छ नहीं समझते बल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। प्रो. आनंदशंकर बाबूभाई ध्रुव कहते हैं कि 'स्याद्वाद मात्र दार्शनिक चिन्तन की रुचि का सिद्धांत नहीं किन्तु उसका उपयोग मनुष्य के मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक जीवन व्यवहार से सम्बंध रखता है। उसने दार्शनिकों को चिन्तन की सर्वदेशीयता प्रदान की है यह विश्वास दिलाते हुए कि सत्य पर किसी का एकाधिपत्य नहीं है।' स्याद्वाद दृष्टि में हृदय की विशालता के दर्शन होते हैं। अधिकांशतः वस्तु स्वरूप के प्रति हम पूर्व से ही एक अवधारणा बनाकर रखते हैं फिर अपनी अवधारणा के अनुसार वस्तु स्वरूप की खोज करते हैं। हम फ्रेम पहले बनवा लेते हैं फिर उसके अनुसार फोटो बनाने की कोशिश करते हैं। हम सत्य को अपने सांचे में

ढालना चाहते हैं। जब कि स्याद्वाद सत्य के प्रति, उसकी खोज के प्रति सारी सम्भावनाओं को बरकरार रखना चाहता है। किसी भी दृष्टि का सर्वथा निषेध उसे पसन्द नहीं। यही उसकी विशालता है।

स्याद्वाद : मुख्य-गौण का जादू

जैन दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। न वह सर्वथा नित्य ही है और न वो सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् भी है तो किसी अपेक्षा से असत् भी है। किसी अपेक्षा से नित्य भी है तो किसी आपेक्षा से अनित्य भी है। सर्वथा नित्य या अनित्य आदि प्रकार के एकान्तों का निरसन करके वस्तु का कथंचित् नित्य या अनित्य इत्यादि रूप का होना अनेकान्त है और अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है। ये दोनों ही वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिवादन मुख्य-गौण भाव से करते हैं। मुख्य-गौण अर्थात् जिस समय जिस धर्म के प्रतिपादन की विवक्षा होती है उस समय उस धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करके अन्य अविवक्षित धर्मों को गौण कर दिया जाता है। उसका निषेध नहीं किया जाता। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इस विषय पर एक सुंदर लौकिक उदाहरण देकर स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली को बताया है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।[2]

अर्थात् जिस प्रकार मथानी से दही का मंथन कर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन अपने एक हाथ से रस्सी के एक छोर को मुख्य बनाकर जब उसे अपनी ओर खींचती है तो उसी समय वह अपने दूसरे हाथ के छोर को शिथिल (गौण) कर उसे आगे की ओर पहुँचा देती है, किन्तु उसे वह छोड़ती बिल्कुल नहीं। उसके तत्काल बाद ही आगे की ओर गये छोर को मुख्य बनाकर वह उसे अपनी ओर खींचकर दूसरे वाले को शिथिल कर आगे बढ़ा देती है। इस प्रकार मथानी के आकर्षण और शिथिलीकरण रूप प्रक्रियाओं द्वारा वह ग्वालिन दही में से सारभूत

तत्त्व (मक्खन) को निकालकर अपने परिवार को प्रमुदित करती है। उसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त एक दृष्टि को प्रधान बनाता है और अन्य दृष्टि को गौण बनाता है और अपनी इसी प्रक्रिया द्वारा वह 'स्याद्वाद' के माध्यम से वस्तु के धर्म का स्पष्ट ज्ञान कराता है। यद्यपि ये दोनों वाद पर्यायवाची है; फिर भी भेद यह है कि अनेकान्तवाद ज्ञानरूप है और स्याद्वाद वचनरूप। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं।

अन्य दर्शनों की दृष्टि

इस भारतभूमि में विश्व के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय और अनुभयये चार पक्ष वैदिक काल से विचारकोटि में रहे हैं। सदेव सौम्येदमग्र आसीत्[3], असदेवेदमग्र आसीत्[4] इत्यादि वाक्य जगत् से संबंधित सत् और असत् रूप से परस्पर विरोधी दो धर्मों को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं। तो वही सत् और असत् इस उभय रूप का तथा इन सबसे परे वचन गोचर तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले पक्ष भी मौजूद थे। बुद्ध के व्याकृतवाद और संजय के अज्ञानवाद में इन्हीं चार पक्षों के दर्शन होते हैं। उस समय का वातावरण ऐसा था कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप सत्, असत्, उभय और अनुभय इन चार कोटियों से विचारा जाता था। भगवान महावीर ने अपनी विशाल और उदार दृष्टि से वस्तु के विराट रूप को देखा और बताया कि वस्तु के अनंत धर्ममय स्वरूप सागर में ये चार कोटियाँ तो क्या, ऐसी अनंत कोटियां लहरा रहीं हैं। उन्होंने बतलाया कि वस्तु में सत्, असत्, उभय और अनुभयये चार कोटियाँ ही नहीं हैं, किन्तु मुख्यतः सात कोटियाँ हैं।

स्याद्वाद का गणित

प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से सात प्रकार से किया जा सकता है। वस्तु में अनंत धर्म है अतः उन अनंत धर्मों की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु में अनंत सप्तभंगियाँ बन सकती हैं। स्याद्वाद वस्तु के अनंत धर्मों का प्रतिपादन स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, **स्यात्** अस्ति् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य इन सात भंगों द्वारा और

नयों की अपेक्षा से करता है। प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्म को लेकर सात प्रकार से किया जाता है और प्रत्येक धर्म के सात प्रकार से प्रतिपादन करने की शैली का नाम सप्तभंगी है। स्याद्वाद गणितशास्त्र के (संयोग नियम) के आधार पर अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य के मूल भंगों को मिलाकर सप्तभंगियों को तैयार करता है। वस्तु को समझने के लिए यह एक सुलझा उपाय है।

स्याद्वाद और शांति-अहिंसा

अहिंसा के संदर्भ में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का उल्लेख आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अनंतधर्मात्मक होता है तथा विधि-निषेधात्मक होता है जिसे समन्वित रूप में न व्याकृत किया जा सकता है और न चिन्तन ही संभव है। हम एक समय एक पक्ष को ही कह पाते हैं। कतिपय चिंतक एक पक्ष को ही सही मानते हैं और उसी को मानने का आग्रह भी करते हैं। यही आग्रह, दुराग्रह, संघर्ष और मन-मुटाव का कारण भी बन जाते हैं। यहीं से अशान्ति और युद्ध शुरू होता है। जैन दर्शन ने इस तथ्य पर बड़ी गहराई से विचार किया। उसके अनुसार किसी दृष्टि या पक्ष को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए। अभिव्यक्ति या चिन्तन करते समय हम एक पक्ष को ही प्रस्तुत करें, पर दूसरा पक्ष भी हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिए, तभी दूसरे की दृष्टि का समादर भी किया जा सकेगा इस पृष्ठभूमि में जैन दर्शन ने अभिव्यक्ति में स्याद्वाद और चिन्तन में अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और सामाजिक पर्यावरण एकान्तिक दृष्टि के प्रति घनघोर लगाव से दूषित होता है। समुचित रूप से विचार करने के लिए और अहिंसक रूप से उसे अभिव्यक्त करने के लिए अनेकान्तवादी और स्याद्वादी होना नितान्त आवश्यक है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का उद्घोष आचरण और पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाने का सुन्दरतम अहिंसक साधन है।

अनेकान्त में भी अनेकान्त

स्याद्वाद ने विराट दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। स्याद्वाद व्यक्ति के विचारों का नैतिक एवं मानवतावादी दृष्टिकोण है। अहं प्रवृत्ति व संकीर्ण विचारधारा के रोग से ग्रस्त मानव समाज स्वयं के अतिरिक्त अन्य तत्त्व को नगण्य मानता है। वह यह भी कहता है कि यदि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद है तो वह स्वयं स्याद्वाद और अनेकान्तवाद पर भी प्रयुक्त होना चाहिए। यद्यपि जैन दर्शन स्याद्वादी और अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है तथापि यदि उसे सर्वथा यही माना जाए तो यह भी तो एकान्त हो जायेगा? अतः जैनदर्शन में अनेकान्त और स्याद्वाद में भी अनेकान्त और स्याद्वाद को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है, न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी है और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है। कहा गया है– 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः'।

इस प्रकार जैन दर्शन का मूलभूत सिद्धांत स्याद्वाद विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की प्रेरक भावनाओं से आप्लावित है। दुनिया के सारे संघर्षों का जन्म असहिष्णुता और आर्थिक असमानता की पृष्ठभूमि में हुआ करता है। विश्व इतिहास और परंपरा इस निष्कर्ष में साक्षी है कि जब भी राष्ट्रों अथवा व्यक्तियों के बीच विचारात्मक द्वन्द्व हुआ, विश्वशांति खतरे में पड़ गयी। इसी विचार-संघर्ष को सौहार्दपूर्ण वातावरण में समाप्त करने के लिए भारतीय विचारक्षेत्र में स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रस्फुटन हुआ। स्याद्वाद इन सभी प्रकार के संघर्षों को दूर करने का अमोध अस्त्र है। विचार-भिन्नता ही मतभेद व विद्वेष की उद्‌भाविका है। इस पारस्परिक विचार-भिन्नता में एक दूसरे के विचार और दृष्टि को समादर करते हुए एकरूपता लाना, विचारों में उदारता, निष्पक्षता, विशालता और सहृदयता लाना स्याद्वाद की मूल भूमिका एवं पुनीत कर्त्तव्य है। यदि हर व्यक्ति और हर राष्ट्र इस सिद्धांत की भूमिका का अनुसरण करे तो निःसंदेह पारस्परिक मैत्री जागृत होगी और सारा विश्व समुदाय शांतिपूर्वक जीवित रहने के अपने वास्तविक अधिकार को समझ सकेगा।

संदर्भ

1. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 71-72
2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 225
3. छन्दोपनिषत् 6/2
4. वही 3/9/1
5. स्वयंभूस्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र

सहायक-ग्रन्थसूची

1. जैन दर्शन में अनेकान्तवाद: एक परिशीलन-डॉ. अशोक कुमार जैन
2. अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धांतों का अक्षय स्रोत: जैन धर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर-प्रो. राजाराम जैन
3. जैनदर्शन-डॉ. महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य
4. जैनधर्म: एक झलक -डॉ. अनेकान्त जैन
5. सन्मति संदेश (मार्च 1974 संस्करण) में प्रकाशित निबन्ध 'विश्वशांति और स्याद्वाद'-डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर'
6. अनेकान्त और स्याद्वाद-डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव॥

जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयों का अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है।

-स्वामि कार्तिकेय, कत्तिकेयाणुवेक्खा गाथा-261

अनेकान्त एवं स्याद्वाद : स्वरूप-विवेचन

-डॉ. कल्पना जैन*

अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्तवाद है, जो हमें यह चेतावनी देती है कि बहस के समय अपनी आँखों को लाल मत बनाओ, न कभी इस भाव को मन में स्थान बनाने दो कि तुम जो कुछ कहते हो, एकमात्र वही सत्य है। किन्तु मन के इस अहिंसायुक्त भाव को हम भाषा में किस प्रकार प्रकट करते हैं। इस जिज्ञासा का समाधान जैनदर्शन ने स्याद्वाद से किया। अनेकान्त चिन्तन की अंहिसामयी प्रक्रिया का नाम है और स्याद्वाद उसी चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली को कहते है। अर्थात् अनेकान्तवाद का संबंध मनुष्य के विचार से है, किन्तु स्याद्वाद उस विचार के योग्य अहिंसायुक्त भाषा की खोज करता है। स्याद्वाद के अनुसार सच्चा अहिंसक यह नहीं कहेगा कि 'यही बात सत्य है'; उसके मुख से तो बराबर यही निकलेगा कि 'स्यात् अपर भी ठीक है।[1]'

अनेकान्तवाद स्याद्वाद का इस अर्थ में पर्यायवाची है कि ऐसा वाद अनेकान्तवाद कहलाता है, जिसमें वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य गौण-भाव से होता हैं आचार्य अमृतचन्द ने लिखा है-

एकेनाकर्षन्ती श्लघयन्ति वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।[2]

यद्यपि ये दोनों पर्यायवाची हैं, फिर भी स्याद्वाद ही निर्दुष्ट

---

* सहायकाचार्य, प्राकृत विभाग, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नवदेहली।

1. दिनकर रामधारीसिंह- जैनधर्म
2. पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक 225

भाषाशैली का प्रतीक बन गया है। अनेकान्तदृष्टि तो ज्ञानरूप है अतः वचनरूप स्याद्वाद से उसका भेद स्पष्ट है। इस अनेकान्तवाद के बिना लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। पग-पग पर उसके बिना विसंवाद की संभावना है, अतः इस त्रिभुवन के एक गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धिसेन ने ठीक ही लिखा है कि इसके बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता।[1] लोक में जितना भी व्यवहार होता है, वह सब आपेक्षिक होता है और आपेक्षिक व्यवहार का नाम ही स्याद्वाद है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि स्याद्वाद का अर्थ है– सम्भावनाओं का स्वीकार। आश्चर्य होता है कि भारतीय दार्शनिकों ने स्याद्वाद को सदा संदेहवाद माना, अनिश्चयात्मक माना किन्तु आज के वैज्ञानिकों ने स्याद्वाद का अर्थ सम्भावनावाद किया है। यह बहुत उचित अर्थ है। इससे नई दृष्टि मिलती है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सम्भावनावाद है। यह संभावना को स्वीकार करने वाली दृष्टि है।[2] जैन संस्कृति की साधना, समता की साधना है। समता, समभाव, समदृष्टि–ये सभी जैन संस्कृति के मूल तत्त्व हैं। समता के अनेक रूप है। आचार की समता अहिंसा है, विचारों की समता अनेकान्त है, समाज की समता अपरिग्रह है और भाषा की समता स्याद्वाद है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है–[3]

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पंससणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।

सूत्रकृतांग में भी कहा गया है कि समता उसी की होती है, जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है।[4] भारत की अहिंसा साधना जैनधर्म से चरम उत्कार्ष पर पहुँची और जैनधर्म में भी अहिंसा का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। कितने बढ़े वे लोग,

---

1. जेण बिणा लोगस्स ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
   तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स। सन्मतिप्रकरण 3/68
2. आचार्य महाप्रज्ञ, अनेकान्त है तीसरा नेत्र पृ.92
3. प्रवचनसार 3/41
4. समाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए 1/2/2/17

जिन्हें यह दिखलाई पड़ा कि केवल रक्तपात करना, कटुवचन कहना अथवा दूसरों का अनिष्ट सोचना ही हिंसा नहीं प्रत्युत जब हम यह आग्रह कर बैठते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं, वही सत्य है तब भी हम हिंसा ही करते हैं। इसीलिए अनेकान्तवादी कहते हैं कि सत्य के पहलू अनेक हैं। जिसे जो पहलू दिखाई देता है वह उस पहलू की बात कहता है और जो पहलू दूसरों को दिखाई देता है, उसकी बातें दूसरे लोग करते हैं इसलिए यह कहना कि केवल यही ठीक है, यह उपयुक्त नहीं।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने वस्तु की अनेकधर्मात्मकता का द्योतन करने के लिए 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता बताई है। अनेकान्तदर्शन चित्त में माध्यस्थ भाव, वीतरागता और निष्पक्षता का उदय करता है, वहीं स्याद्वाद वाणी में निर्दोषता आने का पूरा-पूरा अवसर देता है।[1] इस प्रकार अनेकान्त द्वारा मानस समता की स्थापना होती है।

अनेकान्तदर्शन को ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली 'स्याद्वाद' नाम की भाषाशैली का अविष्कार उसी अहिंसा के वाचनिक विकास के रूप में हुआ है। जब वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उसको जानने वाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है तब वस्तु के सर्वथा एक अंश का निरूपण करने वाली निर्धारिणी भाषा वस्तु का यथार्थ प्रतिपादन करने वाली नहीं हो सकती।

वस्तु के अनेकधर्मात्मक जटिल स्वरूप का प्रतिपादन एक दृष्टि द्वारा अशक्य होने के कारण इसकी कथन पद्धति में विचित्रता रहना स्वाभाविक है, क्योंकि एक ही स्थान में विरोधी धर्मों की सत्ता सरलता से सिद्ध नहीं की जा सकती और न समझी जा सकती है। इस कहने व समझने के लिए बड़े धैर्य, सहिष्णुता, प्रतिभा एवं संयम की आवश्यकता है, इस लिए जन साधारण के लिए वह अगम्य है। इस

1. प्रो॰ महेन्द्रकुमार, जैनदर्शन, पृ॰ 44

कथन पद्धति का नाम-स्याद्वाद नेयवाद या अपेक्षावाद।[1]

स्याद्वाद के सम्बन्ध में माइल्लधवल लिखते हैं—

णियमणिसेहणसीलो णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो।
सो सिय सद्दो भणिओ सो सावेक्खं पसाहेदि।।[2]

जो सर्वथा नियम का निषेध करने वाला है और निपात रूप से जो सिद्ध है, वह स्यात् शब्द कहा गया है। वह वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है। निपात रूप इस स्यात् शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं- संशय, शायद, कदाचित्, संभावना आदि। परन्तु यहां "स्यात्" शब्द कथचित् का घोतक है। कथञ्चित्, कथञ्चन् किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टिकोण से यह स्यात् का अर्थ है।

णदु णयपक्खं मिच्छा तं पिय णेयंत दव्वसिद्धियरं।
सियसद्धसमारुढं जिणवयणविणिग्गयं सुद्धं।[3]

अर्थात् जिनवाणी से निकले हुए शुद्ध 'स्यात्' शब्द से युक्त नयपक्ष मिथ्या नहीं होता, बल्कि वस्तु-स्वरूप की सिद्धि करता है।

अनेकान्त व स्याद्वाद दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। यह भी एक तथ्य ज्ञातव्य है कि बाहर से एक सदृश प्रतीत होते हुए भी दोंनो अन्तर अवश्य है।

अनेकान्त पदार्थ के मूल स्वरूप को देखने की एक विचार-पद्धति है। स्याद्वाद देखे हुए स्वरूप को अभिव्यक्त करने को भाषा पद्धति है। अनेकान्त एक दार्शनिक दृष्टिकोण है और स्याद्वाद उसकी भाषा है अर्थात् स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तु तत्त्व का सच्यक् प्रतिपादन करती है।

---

1. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ में क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा लिखित लेख स्याद्वाद का सार्वभौमिक आधिपत्य पृ-431
2. नयचक्र 253
3. नयचक्र 293

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्तमीमांसा में स्याद्वाद का प्रयोग किया है।[1] सिद्वसेन विरचित न्यायावतार में तो स्पष्टरूप से स्याद्वाद श्रुत का निर्देश करते हुए उसको सम्पूर्ण अर्थ वाला कहा है।[2] भट्टाकलंक देव ने श्रुत के दो उपयोग बताए हैं, उनमें एक तो स्याद्वाद है और वस्तु के एकदेश के कथन को नभ कहा है।[2] स्वामी समन्तभद्र ने स्याद्वाद का लक्षण लिखते हुए कहा है सर्वथा एकान्त को त्याग कर सप्तभंगो और नयों की अपेक्षा से, स्वभाव की अपेक्षा से सत् और परभाव की अपेक्षा असत् इत्यादि रूप से जो कथन करता है उसे स्याद्वाद कहते हैं।[4] षड्दर्शनसमुच्चय में लिखा है कि सभी दर्शनों द्वारा माने गये वस्तु के सद्भूत अंशों का परस्पर सापेक्ष कथन करना स्याद्वाद है।[5] आचार्य मल्लिषेण ने बतलाया है कि स्यात् यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है, इसलिए नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्मरूप एक वस्तु का कथन स्याद्वाद है।[6]

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु का प्रतिपादन करके पूरी वस्तु पर एक ही धर्म के पूर्ण अधिकार का निषेध करता है। वह कहता है कि वस्तु पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार है। विशेषता यही है कि जिस समय जिस धर्म के प्रतिपादन की विविक्षा होती है, उस समय उस धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करके अन्यअविवक्षित धर्मों को गौण कर दिया जाता है।[7] आचार्य अमृतचन्द्र ने एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली को बताया है[8] कि जिस प्रकार दधि-मंथन

---

1. स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
   भेदः साक्षादसाक्षाच्च हयवस्त्वन्यतम भवेत्। (आप्त्मीमांसा पृ. 105)
2. सम्पूर्णार्थविनिश्चायी स्याद्वाद श्रुतमुच्यतेः (सिद्धसेनः न्यायावतार 30)
3. उपयोगौ श्रुतस्य दौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ (लधीयस्त्रय 62)
4. स्याद्वादः सर्वथैकान्त (आप्तमीमांसा 104)
5. षड्दर्शनसमुच्चयः
6. स्याद्वादमञ्जरी (पृ. 15)
7. प्रो. अशोक कुमार जैन (वाराणसी) जैन दर्शन में अनेकान्तवादः एक परिशीलन
8. पुरुषार्थसिध्युपाय, श्लोक 225

करने वाली गोपी मथाने की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन कर इष्ट घृत को प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि करती है।

चूंकि स्याद्वाद के प्रतिपादन की शैली पद्धति एवं प्रक्रिया सप्तभंगी है अत: उस पर भी थोड़ा प्रकाश डालना जरूरी है। आगम ग्रंथों में सिय अत्थि, सिय अत्थि, सिय अवत्तंवा रूप से तीन ही भंगो का निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में हमें सात भंगों के दर्शन होते हैं किन्तु इनके प्रयोग एवं प्रत्येक भंग की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय में की है। इस प्रकार विविध धर्मयुगलों में सप्तभंगी को करने वाले और न्यायशास्त्रीय शैली में उसकी सिद्धि करने वाले प्रथम आचार्य समन्तभद्र है। आगमग्रंथों के 'सिया' शब्द का प्रयोग स्यात् के लिए समवायांग[1] भगवती सूत्र[2] एवं ज्ञान धर्मकथांग[3] आदि ग्रंथों में हुआ है। 'सप्तभंगी' सिद्धान्त की सूत्रात्मक शैली में परिभाषा का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य अकलंकदेव के द्वारा प्रयुक्त प्राप्त होता है।[4] अर्थात् एक वस्तु में प्रश्न के वश से प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं।

प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से सात प्रकार से किया जा सकता है, वस्तु में अनन्त धर्म हैं अत: उन अनन्त धर्मों की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु में अनन्त सप्तभंगियाँ बन सकती हैं।[5] स्यादवाद वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन सात भंगों और नयों की

---

1. समवायांग प्र. 184
2. भगवती सूत्र 16/34/17/14,15,54
3. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, 1/8/67,70, 1/9/20,04
4. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6, पृष्ठ 33
5. प्रो. उदयचन्द्र जैन, आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, प्रस्तावना, पृ 34,40

अपेक्षा से करता है।[1] प्रत्येक धर्म के सात प्रकार से प्रतिपादन करने की शैली का नाम सप्तभंगी है। स्याद्वादमञ्जरी में कहा है जीव आदि पदार्थों के अस्तित्व आदि धर्मों के विषय में प्रश्न उठाने पर, विरोध रहित प्रत्यक्ष आदि से अविरुद्ध, अलग अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मों के विचारपूर्वक 'स्यात' शब्द से युक्त सात प्रकार के वचनरचना को सप्तभंगी कहते है।[2]

निष्कर्ष

अनेकान्त वस्तु है, वाच्य है, स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है, वाचक है और सप्तभंगी स्याद्वाद का साधन है। स्याद्वाद जब अनेकान्त रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभंगी के माध्यम से करता है। इसका आश्रय लिये बिना वह इसका निरूपण नहीं कर सकता।

वक्ता का लक्षण

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्॥

मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से प्रकट रूपेण शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा जो व्यवहार नय और निश्चय नय के ज्ञाता हैं, ऐसे आचार्य जगत में धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन कराते हैं।

–आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 4

1. सप्तभंगनयापेक्षः स्याद्वादः, आप्तमीमांसा, कारिका, 14
2. स्याद्वादमञ्जरी, पृ. 209

अनेकान्त-स्याद्वाद पर उपलब्ध सामग्री

–डॉ. कुलदीप कुमार*

वैसे तो अनेकान्त-स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है, अत: उसका वर्णन जैन ग्रन्थों में तिल में तेल की भाँति सर्वत्र ही पाया जाता है, तथापि इस विषय पर आज हमारे पास स्वतन्त्र रूप से भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यहाँ हम उसी का संकलन/विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। ताकि इस विषय के जिज्ञासुओं का कुछ उपकार हो सके।

यह सूची अभी अपूर्ण है। विज्ञजनों से निवेदन है कि वे इसे पूर्ण करने की कृपा करें। तथा सम्भव है कि इसमें कुछ त्रुटियाँ होंगी अत: उनका भी परिमार्जन करने में सहयोग करें।

(क) संस्कृत-प्राकृत भाषा के मूल ग्रन्थ

1. **आलापपद्धति**, श्रीमद्देवसेनाचार्य, श्रुतोदय ट्रस्ट उदयपुर

2. **सम्मइसुत्तं** (सन्मतिसूत्र), आचार्य सिद्धसेन, भारतीय ज्ञानपीठ

3. **स्याद्वादमञ्जरी,** आचार्य मल्लिषेणसूरि, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, पोस्ट बोरिया 388130 (गुजरात)।

4. **सप्तभंगीतरंगिणी**, विमलदास, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास

5. **सप्तभंगी-नय-प्रदीप,** यशोविजयगणिजी, श्री राजनगरस्थ जैन प्रकाशकसभाया: कार्यवाहक श्रेष्ठी, ईश्वरदास मूलचन्द इतिनामा कीकाभट्टनी पोल, अहमदाबाद, संवत् 2003

6. **आप्तमीमांसा,** आचार्य समन्तभद्र, दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस।

8. अष्टसहस्री, आचार्य विद्यानन्दि, गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् 1915

9. अष्टशती, आचार्य अकलंक

(ख) आधुनिक ग्रन्थ–

10. अनेकान्त और स्याद्वाद, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापू नगर जयपुर 302015

11. अनेकान्त सिद्धान्त, आचार्य कनकनन्दी जी, धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, निकट दिगम्बर जैन धर्मशाला, बडौ़त।

12. अनेकान्तजयपताका, बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीटयूट, 1947

13. अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण, श्रीमद् यशोविजयगणि, श्रेष्ठी ईश्वरचन्द्र मूलचन्द सेठ। श्रीविजय लावण्य सूरीश्वर ज्ञान मन्दिर वोराठ, सौराष्ट्र।

14. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, आचार्य महाप्रज्ञ, सम्पादक मुनि दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)

15. अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श, डॉ. रमेशचन्द्र जैन, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राजस्थान) 1996

16. जैनदर्शन और अनेकान्त, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्शसाहित्य संघ प्रकाशन।

17. स्याद्वाद, पं. जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, श्री दिगम्बर जैन समाज सहारनपुर (उत्तरप्रदेश) 1998

18. जैनदर्शन में अनेकान्तवाद एक परिशीलन, डॉ. अशोक कुमार जैन भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्रीदिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, मन्दिर संघी जी, साँगानेर जयपुर।

19. जैन तत्त्वमीमांसा और स्याद्वाद, आचार्य डॉ. प्रमोद योगार्थी, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, मोहन गार्डन, नई दिल्ली 110059, दूरभाष

011-25358642, 2006

20. स्याद्वाद और सप्तभंगीनय (आधुनिक व्याख्या); डॉ. भिखारीराम यादव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी,1989 फोन-66762

21. जैनदर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद, नाथूराम डोंगरीय, जैन साहित्य प्रकाशन 5/1 तग्बोली बाखल, इन्दौर, मध्यप्रदेश 2000

22. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी : एक चिन्तन, प्रो. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड, वाराणसी-5, फोन 311462, 1990

23. अनेकान्तवाद : एक परिशीलन, विजयमुनिशास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा 1961 (उत्तरप्रदेश)

24. स्याद्वाद : एक अनुशीलन, सम्पादक पण्डित चैनसुखदास, पण्डित अजितकुमार शास्त्री, पण्डित कैलाश चन्द्र शास्त्री, प्रकाशक जैनविद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी (राजस्थान)।

25. अनेकान्त के प्रकाश में मोक्षमार्ग, आचार्यरत्न श्री कनकनन्दीजी महाराज, धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, निकट दिगम्बर जैन धर्मशाला बड़ौत (मेरठ)

26. आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, प्रो० उदयचन्द जैन, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान नरिया, वाराणसी, वीर निर्वाण सं 250।

27. अनेकान्त एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. राजेन्द्र लाल दोसी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली 1982

28. स्याद्वाद रत्नाकर, वादिदेव, मोतीलाल लाघाजी आर्हत मत प्रभाकर कार्यालय, पूना सम्वत् 2453

29. जैनदर्शन में अनेकान्तवाद : एक परिशीलन, डॉ. अशोक कुमार जैन, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघी जी, सांगानेर

जयपुर 2005

30. स्याद्वादः, प्रो. हरिमोहन भट्टाचार्य, साहित्य परिषद् पत्रिका (बंगला)

31. अनेकान्तवाद, प्रो. सातकौड़ी मुखर्जी, बंगला

32. तत्त्वार्थसूत्र का अर्थाशय, मुंशी नाथूराम लेमचू, प्रकाशक स्वयं कटनी, 1902

33. अनेकान्तवाद, साध्वी प्रियस्नेहांजनाश्री, अनेकान्त त्रैमासिकी पत्रिका, जनवरी मार्च 2010, वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली 11002

34. स्याद्वाद : निष्पक्ष मनीषियों की दृष्टि में, प्रो. वीरसागर जैन, प्राकृत विद्या, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, अप्रैल से सितम्बर 2008

35. सामाजिक सौहार्द, समरसता एवं अनेकान्त दृष्टि, प्रो. वीर सागर जैन, जैन बोधक (मासिक), मुंबई, मई 2001

36. जीवन और समाज का आधार अनेकान्त, डॉ. अनेकान्त कुमार जैन, अनेकान्त (त्रैमासिक पत्रिका), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली 11002 अप्रैल से जून 2011

37. महावीर का अनेकान्तवाद, कुमारी श्वेता, प्राकृत शोध संस्थान वैशाली, बिहार रिसर्च बुलेटिन का 21 वां अंक, 2009

38. अनेकान्त और स्याद्वाद, आचार्य विद्यानन्द मुनि, प्रकाकृतविद्या शोध पत्रिका, अप्रैल-दिसम्बर, 2008ई॰, कुन्दकुन्द भारती नई दिल्ली

39. स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ॰ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्राकृतविद्या शोधप्रत्रिका, अपैल-दिसम्बर, 2008 ई॰, कुन्दकुन्द भारती नई दिल्ली

40. स्याद्वाद, आचार्य महाप्रज्ञ, जैनदर्शनः मनन और मीमांसा

41. क्या स्याद्वाद अनिश्चयवाद है, डॉ॰ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

स्मृति ग्रन्थ

42. जैनदर्शन तत्तव, प्रवीण दीक्षित, स्याद्वाद प्रकाशन समिति, कानपुर, सन् 1952

43. अनेकान्त और स्याद्वाद : एक विमर्श, तुषार सरकार, स्वर्ण जयन्ती वर्ष, जैन भारती शोधपत्रिका, मार्च–मई, 2002

44. आधुनिक युग को जैन दर्शन का प्रदेय नयवाद और अनेकान्तवाद, डॉ॰ फूलचन्द जैन प्रमी, स्वर्ण जयन्ती वर्ष, जैन भारती शोध पत्रिका, मार्च–मई, 2002

45. शारीरिक संरचना में झलकता अनेकान्त, डॉ॰ डी. पी. एन. मिश्रा, स्वर्ण जयन्ती वर्ष, जैन भारती शोध पत्रिका, मार्च–मई, 2002

46. Anekanta Mataphyico-Spiritual Perpective Prof. तुलसी प्रज्ञा शोध पत्रिका, जुलाई–दिसम्बर, 2002, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान

47. Anekantavada and its statement in Saptabhanginaya, Arun K. Mukherjee तुलसी प्रज्ञा शोध पत्रिका, अंक 113–114, जुलाई–दिसम्बर, 2001, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान

48. Uniqueness of Anekantavada, H. R. Daegowda, उपरोक्त अनेकान्तवाद के जैन सिद्धांत पर कुछ चिंतन, दयाकृष्ण, जैन भारती शोध पत्रिका, जैन भारती, जून, 2000

49. अनेकान्त का अर्थ, आचार्य श्री महाप्रज्ञ, जैन भारती शोध पत्रिका, जून 2000

50. अनेकान्त दर्शनः ऊर्ध्वारोहण की साधना, प्रो॰ सिद्धेश्वर प्रसाद, स्वर्ण जयन्ती वर्ष जैन भारती शोध पत्रिका, मार्च–मई, 2002

51. अनेकान्त कुछ समस्याएं, प्रो॰ दयाकृष्ण, स्वर्ण जयन्ती वर्ष जैन भारती शोध पत्रिका, मार्च-मई, 2002

52. भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्त प्रो॰ सागरमल जैन, तुलसी प्रज्ञा, दिसम्बर, 2001 जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान

53. विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि, राजेन्द्र जोशी अनेकान्तवाद का समीक्षात्मक अध्ययन, चतुर्थ अध्याय

54. अनेकान्त का परवर्ती दार्शनिक संप्रदायों एवं आधुनिक चिन्तकों पर प्रभाव, **राजेन्द्र जोशी** अनेकान्तवाद का समीक्षात्मक अध्ययन, चतुर्थ अध्याय

55. क्या वेदान्त किसी अंश में स्वीकार्य हो सकता है? डॉ॰ दयानन्द भार्गव, तुलसी प्रज्ञा, अंक 113-114, जुलाई दिसम्बर, 2001, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान

56. वैदिक साहित्य में भाषिक अनेकांत, डॉ॰ हरि शंकर पाण्डेय, स्वर्ण जयन्ती वर्ष, जैन भारती, मार्च-मई, 2002

57. The Applied Apect of Anekanta Philoophy, Dr. Nemi Chand Jain, तुलसी प्रज्ञा, जुलाई-दिसम्बर 2001

58. Applied Anekantavada and world peace. Dr. Anekant Kumar Jain. ASSTT. Profeor Dept. of Jain Philoo-phy. Shri Lal Bahadur Shatri Ratriya Sankrit Vidyapeeth, New Delhi-16, Anekant 76@yahoo.co.in, 09711397716

अनेकान्त तथा स्याद्वाद

–डॉ. देवेन्द्र प्रसाद मिश्र*

यह जैन सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं। गुण ही धर्म हैं। अनेक गुण या धर्मवाली होने से वस्तु अनेकान्तात्मक है। जैसे– जो वस्तु सत् है वह असत् भी है। द्वितीय है वह अद्वितीय भी है। नित्य है वह अनित्य भी है। यद्यपि सांख्य के स्याद्वाद् से जैन स्याद्वाद भिन्न है। जो नित्य है अनित्य नहीं है, सत् वस्तु का असत् नहीं हो सकेगा। भले ही उसके आकार प्रकार में परिवर्तन हो जाए। लेकिन असत् सत् नहीं हो सकेगा।

अनेकधर्मात्मक या गुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। वस्तु के अनेकान्त रूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन शैली स्याद्वाद है। अनेक रूपों में परिवर्तन होने वाली वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनन्त गुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। यह भी भाव से समझा जा सकेगा? परस्पर अलग–अलग प्रतीत होने वाले दो धर्मों को एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, उसमें भिन्न शक्तियों की परस्पर भिन्न–भिन्न प्रतीति होती है। जो शक्ति विरोधाभास से रहित हो वह गुण है। जैसे आत्मा में ज्ञान दर्शन सुख आदि। स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला निर्बाध शासन है। उसका विचार है कि अनेकान्त स्वभाव वाली सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं। स्याद्वाद का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं। कोई भी वस्तु बहुगुणों के कारण अनेक स्वभाव वाली कही जायगी। तो इस अनेक गुण वाली वस्तु का वर्णन कैसे हो? अनेकान्त का कथन ही स्याद्वाद है। एक ही

---

* सहायकाचार्य, वेदविभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली

व्यक्ति विभिन्न रूपवों में प्रतीत होता है। कहीं वह भाई है, कहीं सेवक, कहीं पिता, कहीं पुत्र, कहीं पति तो कहीं दामाद भी है। घटना, परिस्थिति तथा वस्तु का मात्र एक रूप नहीं है, अनेक रूप होते हैं। जब तक प्रत्येक दृष्टि से किसी पदार्थ पर विचार नहीं होगा, तब तक उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

अनेकान्त पदार्थ का सरल भाव में वर्णन करना स्याद्वाद है। जब वाक्य या शब्द के एक गुण का कथन होता है तो उसके अनेक गौण गुण भी सामने आ जाते हैं, वह अनेकान्तवाद ही स्याद्वाद हो जाता है- प्रत्येक वस्तु नित्य है तो वह अनित्य भी है। इसी को जब अपेक्षा मानकर कहा जायगा तो, वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। स्याद्वाद निश्चयात्मक ज्ञान है। वह प्रमाण भी है। यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। उसे अनेकान्तवादी मानने पर तो वह एकातवादी भी है। वह एकान्तवादी भी है और अनेकान्तवादी है।

अनेकान्त को अनेकान्त समझने पर एकान्त का सर्वथा अभाव हो जाएगा। इसी प्रकार समुदाय रूप अनेकान्त का अभाव हो जायगा। एकान्त नय है, अनेकान्त प्रमाण है। एकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जैसे बिखरे हुए मोतियों के दानों को इकट्ठा कर धागे में पिरो देने पर सुन्दर मोती का हार बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूपों को स्याद्वाद के रूप में गूंथने पर सम्पूर्ण नय श्रुतप्रमाण हो जायगा। परमागम के बीज स्वरूप अनेकान्त में सम्पूर्णनय का निवास है। उसमें एकान्तों के विरोध को दूर करने का सामर्थ्य अज्ञान है। जैसे जन्मान्धों का हाथी देखना है। हाथी को खम्भा, शूप, दिवाल बताना असत्य नहीं है। सापेक्ष भाव से ऐसा है। यह कथन अंग के विषय में पूर्ण सत्य है। स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद इतना गंभीर है कि इसको समझे बिना इसकी गहराई तक नहीं जाया जा सकेगा। स्याद्वाद जैन दर्शन का अमोघ किला है, इसका भेदन करना सरल काम नहीं है। 'स्याद्' संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित सापेक्ष का कथन है। इसमें कहीं अज्ञान की झलक नहीं है। यह दृढ़ सत्य है। इसमें कल्पना तथा संभावना नहीं है। विश्व को जिस दृष्टि से देखना चाहें उस दृष्टि से देखा जा सकेगा। इसके विविध स्वरूप का

निरीक्षण किये बिना इसके स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकेगा। यह ज्ञान का सर्व तत्व प्रकाशक है। अनेकान्त का अनुसंधान अहिंसा की साधना का चरम उत्कर्ष है। जैन धर्म का स्याद्वाद प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक प्रकृति के अभ्यासार्थियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस स्याद् वाद से सभी सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है। यह केवलज्ञान के समान सर्वतत्त्वप्रकाशक है।

सहायक ग्रन्थ

1. आप्तमीमांसा (आचार्य समन्तभद्र)
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4 पृष्ठ 501
3. स्वयंभूस्तोत्र (आचार्य समन्तभद्र)

जं पुण समत्तपज्जाय-वत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं।
सम्मत्तं चक्खुमओ सव्वगयावयवगहणे व्व॥
—समणसुत्तं गाथा - 732

तथा जैसे हाथी के समस्त अवयवों के समुदाय को हाथी जानने वाले चक्षुष्मान् (दृष्टिसम्पन्न) का ज्ञान सम्यक् होता है, वैसे ही समस्त नयों के समुदाय द्वारा वस्तु की समस्त पर्यायों को या उसके धर्मों को जाननेवाले का ज्ञान सम्यक् होता है।

आचार्य अकलंक के ग्रन्थों में स्याद्वाद

–अजेशकुमार जैन*

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अप्रतिम स्थान है। भगवान महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शन की आत्मा कहते हैं, एक वह व्यवहार्य मार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा स्वरूप अनेकान्तदृष्टि आती है जो जैन दर्शन के भव्य प्रासाद का मध्य स्तम्भ है। इसी से जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता है। जैन दर्शन ने इस अनेकान्दृष्टि के आधार से बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थन के द्वारा सत्, असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पाप, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विविध वादों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन आ. अकलंक आ हरिभद्र आदि तार्किकों ने अंशतः परपक्ष खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। उसी दृष्टि के विविध प्रकार के उपयोग के लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ।

आचार्य अकलंकदेव ने वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है-इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने को भी अनेकान्त कहा है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जाने वालों नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त

* संस्कृताध्यापक, जैनविद्यालय, रेवाड़ी (हरियाणा)

धर्मों का समूह है और वह प्रमाण का विषय है। अनेकान्तवादी होने के कारण जैनदर्शन में शब्द की प्रतिपादकत्व शक्ति पर भी विचार हुआ है।

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा-पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्मवाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समान हैं। उसमें अविवक्षित गुणधर्मों के अस्तित्व की रक्षा स्यात् शब्द करता है। स्यात् शब्द ऐसा प्रहरी है जो शब्द की मर्यादा को संतुलित रखता है। वह सन्देह या संभावना को सूचित नहीं करता, किन्तु एक निश्चित स्थिति को बताता है कि वस्तु अमुक दृष्टि से अमुक धर्मवाली ही है। उसमें अन्य धर्म उस समय गौण है। कोई भी वाक्य अपने प्रतिपाद्य अंश का अवधारण करके भी वस्तुगत शेष अंशों को गौण तो कर सकता है, पर उनका निराकरण करके वस्तु हो सर्वथा ऐकान्तिक नहीं बना सकता, क्योंकि वस्तु स्वरूप से अनेकान्त (अनेक धर्मवाली) है।

जैसे यह कलम लम्बी, चौड़ी, रूप रस, गन्ध, स्पर्श, हल्की, भारी आदि अनेक धर्मों का युगपत् आधार है। अब यदि शब्द से यह कहा जाय कि यह कलम लम्बी ही है तो शेष धर्मों का लोप इस वाक्य से फलित होता है, जबकि उसमें उसी समय अनन्त धर्म विद्यमान है। न केवल इसी तरह किन्तु जिस समय कलम अमुक अपेक्षा से लम्बी है, उसी समय अन्य अपेक्षा से लम्बी नहीं है। प्रत्येक धर्म की अभिव्यक्ति सापेक्ष होने से उसका विरोधी धर्म उस वस्तु में पाया ही जाता है। अतः विवक्षित धर्मवाची शब्द के प्रयोगकाल में हमें अन्य अविवक्षित अशेष धर्म के अस्तित्व को सूचन करने वाले 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को नहीं भूलना चाहिए।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं। स्याद्वाद एकान्त हठ का निराकरण तो करता है परन्तु कथंचित् रूप से किसी भी वाद का निषेध करना नहीं जानता यही इसकी विशेषता है। इसी को स्याद्वाद कहते हैं और वस्तु के एकदेश के कथन को नय कहते हैं।

आचार्य अकलंक देव द्वारा रचित तत्त्वार्थवार्तिक में जैनदर्शन के प्राण अनेकान्त एवं स्याद्वाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं, उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्तपूर्वक स्याद्वाद रूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे विरले ही सूत्र मिलेंगे जिसमें अनेकान्त एवं स्याद्वाद का प्रयोग न हो। तत्त्वार्थराजवर्तिक के चतुर्थ अध्याय के अन्त में अनेकान्तवाद की स्थापनापूर्वक नय सप्तभंगी और प्रमाण सप्तभंगी का विवेचन किया गया है। अकलंकदेव ने वस्तुव्यवस्था के निर्धारण में अनेकान्त-प्रक्रिया की प्रतिष्ठापना में अनेक प्रकार से विचार किया है जिसका स्याद्वाद शैली द्वारा प्रस्तुतीकरण किया है जिसका हम संक्षेप में निम्न बिन्दुओं में वर्णन कर रहे हैं।

1. तत्त्व-व्यवस्था में अनेकान्त एवं स्याद्वाद–आ. अकलंक ने लिखा है कि जीव, अजीव और आस्रवादि के भेदाभेद का अनेकान्तदृष्टि से विचार करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में एक को प्रधान और एक को गौण करके विवक्षा और अविवक्षा के भेद से जीव, अजीव, आस्रवादि का भेद हो सकता है और नहीं भी हो सकता।

2. वस्तु की विधि-निषेधात्मकता–जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधि-निषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती है। जैसे कुरवक पुष्प लाल और सफेद दोनों रंग का नहीं होता है तथापि वह वर्णशून्य नहीं है। इसी प्रकार परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व सिद्ध ही कहा है। कथञ्चित् असत् की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित सत् की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व है। यदि सर्वथा सत् की अस्ति और उपलब्धि है, ऐसा मान लिया जाये तो घट की पटादि रूप से भी उपलब्धि होने के कारण सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे। सर्वथा असत् की अनुपलब्धि एवं नास्तित्व भी नहीं है, क्योंकि असत् की भी सर्वथा अनुपलब्धि एवं नास्तित्व मान लेने पर पदार्थ वचन के अगोचर हो जायेंगे अर्थात् पदार्थ का अभाव हो जाने से वह शब्द का विषय भी नहीं हो सकेगा।

प्राकृत-साहित्य में स्याद्वाद

–दिनेश*

प्राकृत भाषा को जन सामान्य की भाषा कहा है। वास्तव में व्यक्ति जन्म से जो भाषा बोलता है वह प्राकृत है। प्राकृत प्राचीनकाल में लोकव्यवहार की भाषा थी। इसी कारण भगवान महावीर ने भी अपने उपदेश जनसामान्य की भाषा प्राकृत में ही दिये। इसी परम्परा के बाद प्राकृत भाषा में लेखन कार्य में आचार्य कुदकुन्द का नाम अग्रणी है।

प्राकृत भाषा के महान् विद्वान् और सिद्धान्त साहित्य के प्ररूपक के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम अत्यंत प्रसिद्ध है। इनके प्राकृत साहित्य के ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में रचित हैं। इन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 1. प्रवचनसार 2. समयसार 3. पञ्चास्तिकाय महत्त्वपूर्ण हैं। ये तीन ग्रन्थ विशाल हैं और जैन धर्म के तत्त्वज्ञान को समझने की कुंजी हैं।

समयसार–'समय' शब्द के दो अर्थ हैं–समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार वर्णित हो वह समयसार है। इसमें दस अधिकार हैं। सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार में स्वसमय, परसमय शुद्धनय आत्मभावनादि का विवेचन किया गया है। तथा अन्तिम दसवें अधिकार में स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मस्वरूप का वर्णन किया गया है। आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। इस ग्रन्थ की तुलना उपनिषद् साहित्य से की जा सकती है।

---

* शोधछात्र, प्राकृतभाषा जैनदर्शन विभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथनपद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।

समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस विषय में लिखा है– स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बोध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाव वाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं। जो वस्तु तत् है वही अतत् है जो एक है वही अनेक है जो सत् है, वही असत् है जो नित्य है, वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है–

'स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति ......तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुत्वनिष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।'

इस व्याख्या के अनुसार अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है; किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायेगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है। अनेकान्त यह बताता है कि ज्ञानमात्र जो भाव है अर्थात् जीव पदार्थ है शुद्धात्मा है वह तद्रूप या अतर्द्रप या एकानेकात्मक अथवा सदसदात्मक किं वा नित्यानित्यादि स्वभावात्मक है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि आत्मा ज्ञानरूप से तद्रूप है, तो ज्ञेयरूप से अतद्रूप भी है। द्रव्यार्थिकनय से एक है तो पर्यायार्थिक नय से वही अनेक भी है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा जो सद्रूप है वही परद्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा असद्रूप भी है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य है तो पर्यायार्थिकनय से अनित्य भी है। पर्यायार्थिक के द्वारा भेदात्मक है तो द्रव्यार्थिकनय के द्वारा वही अभेदात्मक

भी है, इत्यादि अनेक धर्म वाला आत्मा है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने भी स्याद्वाद के स्वरूप में ऐसा ही कहा है–

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते॥

सत्-असत्, नित्य–अनित्य, एक-अनेक और वक्तव्य-अवक्तव्य ये परस्पर विरुद्ध आठ नयों के चार जोड़े हैं। इनको यदि सर्वथा एकान्त दृष्टि से मानें तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु स्यात् अर्थात् कथंचित् रूप से इन्हें स्वीकार करने पर ये एक दूसरे के पोषक बने रहते हैं।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, न कि अनुजीवी गुणों के साथ। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं उन्हें धर्म कहते हैं।

वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है अतः किसी भी धर्मी वस्तु में किसी विवक्षा से जो धर्म कहना हो उसे उसका प्रतिपक्षभूत धर्म भी अन्य दृष्टि से साधा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ कुन्दकुन्द इत्यादि आचार्यो के द्वारा विरचित प्राकृत-साहित्य तथा उसके टीका-साहित्य में स्याद्वाद का बड़ा ही मार्मिक चिन्तन किया गया है।

सन्दर्भ

1. समयसार–आचार्य कुन्दकुन्द, जयसेन स्वामी की टीका
2. पञ्चास्तिकायसंग्रह-आचार्य कुन्दकुन्द
3. आप्तमीमांसा–आचार्य समन्तभद्र

जैन दर्शन में स्याद्वाद की उपयोगिता

–सियंका शर्मा*

भारतीय दर्शनों का मुख्य लक्ष्य परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। वे अपने–अपने विचार कौशल के आधार पर स्वसिद्धान्त द्वारा इस अज्ञानमयी क्षणिक संसार से आवागमन के बन्धन से मुक्ति दिलाने के उपाय को प्रकट करते है। जैनाचार्यों ने एक ही वस्तु में अनेक धर्मों की सत्ता रहती है–इसकी मुक्त कण्ठ से उद्घोषणा की है। जैनदर्शन के अनेकान्तवाद में भी अनेकान्त है। इनका मानना है कि जब तक अनेकान्त का ज्ञान नहीं होता, तब तक वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

शास्ति यत्साधनोपायं बाधनाऽपायमेव च।
सर्वेषां पुरुषार्थानां तच्छास्त्रमभिधीयते।।

जो सब पुरुषार्थों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अभ्युदय निःश्रेयस के, जीव की जीविका और जीव के उद्धार के साधन का उपाय और उनके बाधकों का अपाय, प्रतिकार बतलावे वही सच्चा शास्त्र है। परस्पर मेल बढाना ही इन साधनों में उत्तम उपाय कहा। व्यवहार शोधन के लिए शास्त्र बनता है। इसी तरह जैन शास्त्र का मूल सिद्धान्त 'स्याद्वाद' ऐसा ही साधु उपाय है।

'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः'[1] अर्थात् अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन ही स्याद्वाद है कहा है–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।

जैनदर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को नय के नाम से पुकारा जाता है। जैन साहित्य में

* शोधछात्रा, न्यायवैशेषिक विभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली

स्याद्वाद का स्थान बहुत ऊँचा है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार हम इसे जैनागम का जीव अथवा बीज कह सकते हैं। जिस तरह जीव के बिना निष्प्राण शरीर किसी काम का नहीं, इसी तरह स्याद्वाद के बिना परमागम भी बिल्कुल निष्फल और निःसार है। स्याद्वाद को बिना समझे और बिना कहे कोई सम्यग्दृष्टि भी नहीं बना सकता। पदार्थ को एकान्त दृष्टि से देखने वाली मिथ्या दृष्टि होती है। जो अपने जीवन में स्याद्वाद का उपयोग करना नहीं जानता वह सम्यक् दृष्टि को कैसे पा सकता है। स्याद्वाद के बना सारा ज्ञान कुज्ञान कहलाता है।

जब तक किसी सिद्धान्त का व्यवहार में उपयोग नहीं होता तब तक उसकी ग्राह्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। केवल विचारों और ग्रन्थों में ही रह जाने वाले सिद्धान्त से संसार को कोई लाभ नहीं हो सकता। जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमय विचारों का चरित्र के रूप में उपयोग करते है तभी आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति होती है। त्रयात्मक मुक्तिमार्ग मानने का यही आशय है कि यथार्थ विचारों को जीवन में उतारकर उनका व्यावहारिक उपयोग किया जाए।

अधिकांश जन समुदाय यह मानते हैं कि स्याद्वाद केवल शास्त्रों की वस्तु है किन्तु ऐसी बात नहीं है। यदि यह शास्त्रों की ही वस्तु होती तब तो इसका जगद् कल्याण से क्या सम्बन्ध था। शास्त्रों में तो केवल स्याद्वाद का स्वरूप और लक्षण बतलाया है। स्याद्वाद की व्याख्या करने वाले महर्षियों की यह आज्ञा है कि मानव जीवन को सफल और शन्तिमय बनाने के लिए जीवन के प्रत्येक विभाग में स्याद्वाद का उपयोग करने की आवश्यकता है। यदि विश्वशान्ति का कोई एकमात्र कारण हो सकता है तो वह 'स्याद्वाद' ही है। इस समय संसार में जो सर्वत्र अशान्ति और आकुलता का साम्राज्य आता है इसका कारण यह है कि मनुष्य सिर्फ अपनी आँखों से देखना जानता है। यदि मानव समाज स्याद्वाद की विशाल और उदार दृष्टि से देखना सीख जाय तो संसार में अधिकांश दुःखों का नाश हो जाय।

अनेकान्तवाद का पक्ष लेकर स्वामी समन्तभद्र ने सर्वथैकान्तवादियों से वाद करने का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने अपना वादक्षेत्र भी सीमित

नहीं रखा। वे अपनी जन्मभूमि में ही वादविवाद नहीं करना चाहते। इनके वाद का उद्देश्य यह नहीं था कि अन्य धर्मों पर विजय प्राप्त की जाय। उनकी तो यह शुभ भावना थी कि पक्षपात न हो, साम्प्रदायिकता का समूल नाश हो, सन्मार्ग का प्रचार हो। जैन धर्म का पुनः प्रचार बढाने के लिए, विश्व कल्याण के लिए उनका जन्म हुआ था। इसलिए सर्वमत सम्मत उपदेश देना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। इस समय तत्वज्ञान सम्बन्धी गुत्थियाँ सुलझाने के लिए और पाखण्डवाद को भ्रमपूर्ण सिद्ध करने के लिए इस अपेक्षावाद (स्याद्वाद) के अतिरिक्त अन्य कोई उपयुक्त साधन नहीं था। भगवान महावीर ने सम्पूर्ण दर्शनों के अन्तस्तत्व को हृदयंगम करके उन सबको अनेकान्त के आलोक से प्रकाशित किया। स्याद्वाद से वस्तुतत्त्व का निरूपण किया ओर अपेक्षाभेद से प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ रहस्य को समझाया। इससे प्रभावित होकर लोगों ने एकान्तवाद का त्याग कर दिया और अपने किए हुए पापकृत्यों पर पश्चात्ताप किया। इतिहासज्ञों का कहना है कि भगवान् महावीर के उपदेश से अद्भुत क्रान्ति हुई और एक विशिष्ट क्रान्ति का जन्म हुआ।[3]

प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष होने के कारण वस्तु और उनके धर्म का प्रतिपादन सात प्रकार से होता है जिसे सप्तभङ्गी नय के रूप में जानते हैं–

1. स्यादस्ति 2. स्यात् नास्ति 3. स्यादस्ति नास्ति 4. स्यादवक्तव्यम् 5. स्यादस्ति अवक्तव्यं च 6. स्यान्नास्ति अवक्तव्यं च 7. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यं च

इन सप्तभङ्गी वाक्यों का मूल विधि एवं प्रतिषेध है। इसलिए आधुनिक विद्वान् विधि-प्रतिषेधमूलक पद्धति के नाम से इसे व्यक्त करते हैं।[4] जैनेतर दर्शनों में वैदिक दर्शन में अनेकान्तवाद के समर्थक अनेक विचार मिलते हैं। बौद्ध दर्शन में भी स्याद्वाद दिखायी देता है। स्याद्वाद आपेक्षावाद का सिद्धान्त है। इस दृष्टि से एक ही वस्तु सत् और असत् दोनों है कोई वस्तु गुण की दृष्टि से यदि सत् है तो वो पर्याय की दृष्टि से असत् भी है। ये सत् और असत् भाव प्रथमदृष्ट्या विरोधी प्रतीत होते हैं किन्तु इन विरोधी धर्मों का समन्वय करना ही जैनदर्शन का स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहलाता है। इसके अनुसार वस्तु स्वरूप अनन्त है।

किसी भी वस्तु का एकरूप होना सर्वथा असम्भव है। अस्ति नास्ति भाव अभाव शाश्वत नित्य परिणाम का समन्वय करना ही स्याद्वाद है। यही स्याद्वाद जैन दर्शन का तत्त्विक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण की विशेषता यही है कि इस चिन्तन में इसके विरोधी धर्म भी समाहित हैं। यह जैनदर्शन की उदारता का परिचायक है। वस्तुतः स्याद्वाद एक ऐसा अद्‌भुत और अनूठा सिद्धान्त है जिससे प्रत्येक प्रकार का धार्मिक वाद-विवाह व व्यावहारिक कलह आसानी से दूर हो सकता है। बस यही सिद्धान्त जैन धर्म का सर्वस्व है। यदि जैन सिद्धान्त से इस बहुमूल्य सिद्धान्त को पृथक् कर दिया जाए तो जैनधर्म में कोई खास विशेषता बाकी न रह जायेगी। स्याद्वाद जैन सिद्धान्त बीज, जीव तथा मूल है, जैसा कि अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

स्याद्वाद सिद्धान्त सब सिद्धान्तों को अपने में आत्मसात किए है। जब वह इतना सतर्थ है यह भी निश्चित है कि वह विश्वशान्ति का भी साधन है।

निष्कर्ष– स्याद्वाद के गूढ रहस्य सिद्धान्तशास्त्रों और न्यायग्रन्थों तक ही सीमित नहीं, इसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। जीवन के क्षण-क्षण में होने वाली घटनाओं में स्याद्वाद का उपयोग किया जा सकता है और स्याद्वाद की दृष्टि द्वारा एक सुन्दर धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना की जा सकती है। इसको सभी इतरदर्शनों ने भी किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया। इसका उद्देश्य किसी धर्म-दर्शन का विरोध नहीं, बल्कि एकता सत्य की खोज, भ्रम का निवारण करना है।

सन्दर्भ

1. लघीयस्त्रय टीका
2. स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक 103
3. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 102
4. अष्टसहस्त्री, पृष्ठ 125

'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में स्याद्वाद

–प्रेमलता*

जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है। उसके सिद्धान्त न केवल पारमार्थिक दृष्टि से, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय सिद्ध होते हैं।

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तुस्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्मशान्ति के साथ-साथ विश्वशान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है।

अनेकान्त और स्याद्वाद को समझे बिना जैनदर्शन को समझा ही नहीं जा सकता, अत: जैनदर्शन का मर्म जानने के लिए इन विषयों को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए।

क्या है अनेकान्त?

अनेकान्त क्या है? अनेक + अन्त, जिसमें अनेक अन्त हैं, वह अनेकान्त है।

व्युत्पत्ति–अनेकेऽस्मिन् धर्मा: स अनेकान्त:। (बहुव्रीहि समास)

लक्षण–''एकस्मिन् वस्तुनि परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त:।[1]

अनेकान्तवाद का स्वरूप–अनेकान्तवाद जैनदर्शन का ऐसा सिद्धान्त है कि हम ऐसा भी कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद जैनदर्शन का प्राण है। इस विषय में आचार्य सिद्धसेन कहते हैं–

---

* शोधछात्रा, जैनदर्शन विभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।[2]

जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व की सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, अनेकान्तस्वरूप हैं अर्थात् उनका स्वरूप ही अनेकान्त है। अनेकान्त में 'अन्त' का अर्थ हैं–धर्म, गुण, स्वभाव, अर्थ इत्यादि।

जैनाचार्यों के अनुसार पदार्थ सर्वथा एक रूप नहीं है, प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक है।

दृष्टान्त–जैसे एक स्त्री एक ही समय में, एक ही काल में, माता भी है, पुत्री भी है, बहन भी है, भतीजी भी आदि। पुत्री अपेक्षा माता है, माता अपेक्षा पुत्री है। चाचा अपेक्षा भतीजी, भाई अपेक्षा बहन है।

अनेकान्तवाद की उपयोगिता–अनेकान्तवाद के बिना लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता है, जैसा कि कहा गया है:–

तस्यानेकान्तवादस्य लिंगं स्याच्छब्द उच्यते।
तदुक्तार्थे विना भावे लोकयात्रा न प्रवर्तते।।[3]

अनेकान्तवाद की विशेषतायें

(1) अनेकान्त छल रूप नहीं है[4] क्योंकि जहाँ अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन–विघात किया जाता है, वहाँ छल होता है।

(2) अनेकान्त संशयहेतु नहीं है।[5] सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर किन्तु उभय विशेषों का स्मरण होने से संशय होता है। संशय का आधार उचित नहीं है? यदि नहीं है कि अस्ति आदि धर्मों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करने वाले हेतु हैं या नहीं? यदि नहीं है तो प्रतिपादन कैसा? यदि है तों एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की सिद्धि होने पर संशय होना ही चाहिए, क्योंकि यदि विरोध होता तो संशय होता। क्योंकि सप्तभङ्गी नय में समझाया गया है

कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और परस्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है।

(3) अनेकान्त को अनेकान्त ही कहना चाहिए[6], क्योंकि अनेकान्त में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं। अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को सयुक्ति ग्रहण करने वाला सम्यगेकान्त है। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। सम्यग् एकान्त नय कहलाता है तथा सम्यग् अनेकान्त प्रमाण।

स्याद्वाद क्या है?

स्याद्वादो विद्यते यत्र पक्षपातो न विद्यते।
अहिंसाया प्रधानत्वं जैनधर्मः स उच्यते॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि स्याद्वाद क्या है? जैन दर्शन का अपर नाम ही स्याद्वाद है। स्याद्वाद के बिना जैनदर्शन मिथ्या (अधूरा) है।

स्याद्वाद शब्द का अर्थ–

(1) अनेकान्तवादस्य कथनशैली स्याद्वादः[7]।

(2) अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।[8] **स्याद्वाद सम्पूर्ण एवं यथार्थ**[9] है। सभी धर्मों में परम तत्त्व का गुणगान है और सभी दर्शन भिन्न-भिन्न शैली में उस परमतत्त्व का विवेचन करते हैं, परन्तु स्याद्वाद शैली सम्पूर्ण एवं यथार्थ है।

स्याद्वाद का महत्त्व

भारतीय संस्कृति में स्याद्वाद का विशिष्ट महत्त्व है। स्याद्वाद शब्द का प्रयोग न केवल साहित्यिक भाषा में अपितु व्यावहारिक रूप में भी इसका महत्त्व है। व्यावहारिक जगत् में प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, क्षेत्र,

काल, भाव रूप से सत् तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से असत् है। जैसे एक समय में एक पुस्तक स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से अपने स्थान पर स्थित सत् है, परन्तु वही पुस्तक अन्यत्र स्थान पर सत् रूप नहीं हो सकती।

स्याद्वाद का महत्त्व विश्वशान्ति के लिए भी है, क्योंकि यह आतंकवाद विरोधक है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा द्रव्य अपेक्षा से नित्य है तथा क्षेत्र अपेक्षा से अनित्य है। ईश्वर स्वभाव से एक है, परन्तु व्यक्तिगत रूप में अनेक हैं।

उदाहरण–स्याद्वाद के अनुसार कौआ पंचवर्णात्मक होता है।

स्याद्वाद में सप्तभङ्गी का स्वरूपः–

विधिनिषेध के विकल्प अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति सात प्रकार से होती है, वह सप्तभङ्गी कहलाता है। तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है–

प्रश्नवशात् एकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी।[10]

लक्षण–"एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिनिषेधकल्पना सप्तभङ्गी विज्ञेया।"[11]

सात भङ्ग–स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

यदि हम देखें तो मूलरूप से तीन भङ्ग हैं–स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्यम्। इन तीनों का संयुज्य करने पर सात भङ्ग होते हैं, सात से अधिक भङ्ग नहीं हो सकते।

निष्कर्ष रूप में श्रद्धेय पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का महत्त्वपूर्ण कथन पठनीय है–

"दुनियाँ में बहुत से वाद हैं, स्याद्वाद भी उनमें से एक है, पर वह अपनी अद्‌भुत विशेषता लिए हुए है। दूसरे वाद विवादों को उत्पन्न कर संघर्ष की वृद्धि के कारण बन जाते हैं। तब स्याद्वाद जगत् के सारे विवादों को मिटा कर संघर्ष को विनष्ट करने में ही अपना गौरव प्रकट करता है। स्याद्वाद के अतिरिक्त सब वादों में आग्रह है, इसलिए उनमें विग्रह फूट पड़ते हैं, किन्तु स्याद्वाद तो निराग्रहवाद है, उसमें कहीं भी आग्रह का नाम नहीं है। यही कारण है कि इसमें किसी भी प्रकार के विग्रह का अवकाश नहीं है।"[12]

सन्दर्भ

1. समयसार (आत्मख्याति टीका)
2. आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र 3/69
3. आचार्य जटासिंहनन्दि, वरांग-चरित्र 26/83
4. तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथमोऽध्याय, सूत्र-6, वार्तिक 8, पृ. 36
5. तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथमोऽध्याय, सूत्र-6, वार्तिक-9, पृ. 36
6. " " " " 6-7 पृ. 35
7. जैनलक्षणावली, भाग 3, पृष्ठ 1203
8. " " " "
9. श्रीमद् राजचन्द्र, भाग 1, पृ. 245
10. तत्त्वार्थराजवार्तिक, प्रथमोध्याय, सूत्र 6, वार्तिक 5
11. जैन लक्षणावली, भाग 3, पृष्ठ 2089
12. प्राकृत-विद्या (अप्रैल-दिसम्बर 2008), कवर पृ. 3

जैनदर्शन में स्याद्वाद का स्वरूप

–कविता देवी*

भूमिका–जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक चिन्तनधारा है। जैनदर्शन के सिद्धान्त न केवल पारमार्थिक दृष्टि से अपितु लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय सिद्ध होते हैं। स्याद्वाद जैनदर्शन की अपनी विशिष्टता है। जैनदर्शन में इसका इतना अधिक महत्त्व है कि यह जैनदर्शन का पर्याय माना जाता है। वस्तुतः स्याद्वाद जैनदर्शन का प्राण है। सम्पूर्ण जैन विचारधारा इसी पर आधारित है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वस्तु में सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भाव, अभाव आदि अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्म पाये जाते हैं। इन अनन्त गुणधर्मों के कारण ही वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा जाता है। वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप स्याद्वाद के द्वारा मुखरित होता है। अर्थात् ''अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।''

स्याद्वाद शब्द का अर्थ–स्याद्वाद शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– स्यात् + वाद। 'स्यात्' की जिसमें प्रधानता हो ऐसे वाद या कथन को स्याद्वाद कहते हैं।

'अस्' धातु से विधिलिङ्ग में 'स्यात्' शब्द निष्पन्न होता है। स्याद्वाद में स्यात् विधिलिङ्ग में निष्पन्न शब्द नहीं है। स्यात् के विधि, विचार, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमें से यहाँ अनेकान्त अर्थ विवक्षित है। कथन है–

तस्यानेकान्तवादस्य लिंगं स्याच्छब्द उच्यते।
तदुक्तार्थे विना भावे लोकयात्रा न प्रवर्तते।।

* शोधछात्रा, शिक्षा शास्त्र विभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली

अर्थः–उस अनेकान्त का चिह्न 'स्यात्' शब्द है। उसे कहे बिना लोक–यात्रा भी नहीं चल सकती है।

स्यात् शब्द का प्रयोजन–स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से नित्य है। वह अभिप्राय क्या है? द्रव्यरूप से नित्य है– यह अभिप्राय है। फिर स्यात् से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार द्रव्य रूप से नित्य है, उसी प्रकार पर्याय रूप से भी नित्य है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना 'स्यात्' शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् पर्याय रूप से अनित्य है।

अनेकान्तवाद स्याद्वाद का पर्यायवाची है। ऐसा वाद अनेकान्तवाद कहलाता है, जिसमें वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य–गौण–भाव से होता है। यद्यपि दोनों पर्यायवाची हैं, फिर भी स्याद्वाद ही निर्दिष्ट भाषा–शैली का प्रतीक बन गया है। वस्तुतः यह वस्तुस्वरूप को समीचीनतया समझने–समझाने में अत्यन्त समर्थ होने से दर्शन के क्षेत्र में तो बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और यहां तक कि सम्पूर्ण विश्व में सुखशान्ति स्थापित करने की दृष्टि से भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय समझा जाता है।

अनेकान्तदृष्टि तो ज्ञानरूप है, किन्तु जैनदर्शन का यह सिद्धान्त वचनरूप अर्थात् बोलने की कला का ही चरम विकास है। इस अनेकान्तवाद के बिना लोकव्यवहार भी नहीं चल सकता। कदम–कदम पर विसंवाद की संभावना है। अतः इस त्रिभुवन के एक गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने ठीक ही लिखा है–

जेण विणा लोकस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्य भुवणेक्कगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स।।

स्याद्वाद के अवलम्बन बिना कभी कोई भी अच्छा नहीं बोल सकता, क्योंकि उसके बिना सच्चा नहीं बोला जा सकता। जो सच्चा न हो वह कैसा भी हो, अच्छा नहीं हो सकता; अतः अच्छा व सच्चा बोलने के लिए स्याद्वाद का अवलम्बन अनिवार्य है। वस्तुतः अनन्तधर्मात्मक

जटिल वस्तु को स्याद्वाद के बिना बोलने की कोई भी कोशिश ठीक से नहीं हो सकती।

स्याद्वाद की शैली–आचार्य अमृतचन्द्र ने एक सुन्दर दृष्टान्त स्याद्वाद की प्रतिपादन-शैली का बतलाया है कि जिसप्रकार दधि-मन्थन करने वाली गोपी मथाने की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरी छोर को छोड़ती हुई मन्थन करके घृत को प्राप्त करती है, उसी प्रकार स्याद्वाद-नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तवाद अर्थ की सिद्धि करती है।

उपयोगिता–अनेक विरोधी धर्म सापेक्षता से ही सिद्ध होते हैं, निरपेक्षता से नहीं। अनेक विरोधी धर्मों को एक साथ लेकर चलने वाली अर्थात् मुख्य-गौण करके सभी का वर्णन करने वाली शैली स्याद्वाद सबसे उपयोगी है।

सप्तभंगी (Seven-fold predication):–स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। विरोधी धर्म एक साथ रह तो सकते हैं परन्तु एक साथ शब्दों में व्यक्त करने के सात तरीके हैं जिन्हें सप्तभंगी के नाम से जाना जाता है–

1. स्यात् अस्ति
2. स्यात् नास्ति
3. स्यात् अस्ति नास्ति
4. स्यात् अवक्तव्य
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य
6. स्थत् नास्ति अवक्तव्य
7. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की

अपेक्षा से अस्तित्ववान है, वैसे ही वह दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं भी है, अस्तित्व और नास्तित्व की एक ही वस्तु में अपेक्षा-भेद से सह-अवस्थिति है।

दृष्टियाँ	स्वदृष्टि से अस्तित्व	परदृष्टि से नास्तित्व
1. द्रव्यदृष्टि	घट मिट्टी द्रव्य का है।	घट स्वर्ण का नहीं है।
2. क्षेत्रदृष्टि	घट दिल्ली क्षेत्र का है।	घट पानीपत का नहीं है।
3. कालदृष्टि	घट शीतकाल का बना हुआ है	घट ग्रीष्मकाल का नहीं है।
4. भावदृष्टि	घट पानी रखने का है	घट घी रखने का नहीं है।

यद्यपि स्याद्वाद शब्द जैन-विचारधारा का है। इसको दार्शनिक रूप उत्तरवर्ती आचार्यों ने दिया है। स्याद्वाद जितना दार्शनिक है, उतना ही व्यावहारिक भी है। वह किसी भी क्षेत्र से उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इनकी तीन निष्पत्तियों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। वे हैं–

1. सापेक्षता (Re l a tivi t y)

2. सह-अस्तित्व (Co-exi t ene)

3. समन्वय (Co r dina tion)

1. **सापेक्षता (Re l a tivi t y)**–स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्याद्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु में अनत धर्म होते हुए भी एक साथ एक ही शब्द में प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। किसी एक अपेक्षा से हम वस्तु के एक धर्म का कथन कर रहे हैं, पर किसी एक अन्य अपेक्षा से दूसरे धर्मों का भी अस्तित्व है, उसे नकारा नहीं जा। इस अपेक्षाभेद को समझना ही सापेक्षता है। जैसे एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, कलाकार, चित्रकार, संगीतकार, न जाने क्या-क्या है। काव्य-संगोष्ठी में उसका कवित्व रूप सामने आता है।

उस समय अन्य विशेषताएं समाप्त या नाश को प्राप्त नहीं होती हैं। इसको केवल स्याद्वाद को समझने वाला व्यक्ति ही समझ सकता है।

2. सहअस्तित्व (c0exitene):–अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं और उनका सहअस्तित्व होता है। यदि विरोधी धर्म न हो तो वस्तु का अस्तित्व भी नहीं हो सकता। चेतन का अस्तित्व तब है जब अचेतन है। अचेतन का अस्तित्व तब है जब चेतन है। चेतन के बिना अचेतन का, अचेतन के बिना चेतन का अस्तित्व नहीं है। जैसे विरोधी युगलधर्मो का होना स्वाभाविक है, वैसे ही उनका अस्तित्व भी स्वाभाविक है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य विरोधी प्रतीत होते हैं, पर उनका भी सहअस्तित्व होता है। जैन विचारकों ने इन विरोधी धर्मों की इस अवस्थिति को एक उदाहरण द्वारा समझाया–

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्।। (आप्तमीमांसा)

उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य में जो परस्पर विरोधी प्रतीत हो रहे हैं, इनका एक वस्तु में सह अस्तित्व है।

3. समन्वय (C0rdination)–अनेकान्त की महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है–समन्वय। यहाँ पर जैन विचारकों ने विरोधी धर्मों को एक साथ स्वीकार ही नहीं अपितु विरोधी विचारों के बीच समन्वय स्थापित किया।

समन्वयवाद का अर्थ है–विचारों की मीमांसा। एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना ही समन्वयवाद है। दो विचार-धाराएं हैं- एक आत्मा को नित्य मानती है और दूसरी विचारधारा अनित्य। समन्वयवादी कहेगा-दोनों दृष्टि ठीक हैं। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। विश्व में कोई भी पदार्थ न एकान्त नित्य है, न अनित्य, यही समन्वयवाद है। यथा पांच अंधों द्वारा हाथी को जानना।

स्याद्वाद में 'स्यात्' पद का औचित्य

–रवि गुरैया*

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है, अतः स्याद्वाद को समझने के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ-विश्लेषण आवश्यक है। स्यात् शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं। विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा में स्यात् का अर्थ **''शायद''** **''सम्भवतः''** **''कदाचित्''** और अंग्रेजी भाषा में **Probable, May be, Perhaps, Some how** आदि किया गया है और इन्हीं अर्थों के आधार पर उसे संशयवाद, सम्भावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है।

बहुत बड़ी भ्रान्ति

यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित् शायद, सम्भव आदि भी होता है। किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चयवाद मान लेना एक भ्रान्ति ही होगी। हमें यहाँ बात को भी स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि प्रथम तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। दूसरे अनेक बार शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट अर्थ में होता है, जैसे जैन परम्परा में धर्म शब्द का प्रयोग धर्मद्रव्य के रूप में भी होता है। जैन आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में ही किया है। यदि स्याद्वाद सम्बन्धी आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद के किसी

---

* शोधछात्र, जैनदर्शन विभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नई दिल्ली

भी मूलग्रन्थ को देखने की कोशिश की होती, तो उन्हें स्यात् पद का जैन परम्परा में क्या अर्थ है- यह स्पष्ट हो जाता। स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण उसे **तिङन्त** पद मान लेना है, जबकी समन्तभद्र, विद्यानन्दि, अमृतचन्द्र, मल्लिषेण आदि जैन आचार्यों ने इसे **निपात** या **अव्यव** माना है। समन्तभद्र स्यात् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि स्यात् यह निपात शब्द है, जो अर्थ के साथ संबंधित होने पर वाक्य में अनेकान्त का द्योतक और विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है। इसी प्रकार पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र भी स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि–

स्यात् एकान्तता का निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थ का द्योतक एक निपात शब्द है।[2]

मल्लिषेण ने भी स्याद्वादमंजरी में स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक एक अव्यय माना है।[3]

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनदर्शन के विचारकों की दृष्टि में स्यात् शब्द संशयपरक न होकर अनेकान्तिक किन्तु निश्चयात्मक अर्थ का द्योतक है। यदि संसार के दार्शनिक अपने एकान्त आग्रह को छोड़कर अनेकान्त अथवा स्याद्वाद दृष्टि से काम लेने लगें तो हमारे जीवन के बहुत से प्रश्न सहज में ही हल हो सकते हैं।

वास्तव में सत्य एक है, केवल सत्य की प्राप्ति के मार्ग जुदा-जुदा हैं। अल्प शक्ति वाले छद्मस्थ जीव इस सत्य का पूर्णरूप से ज्ञान करने में असमर्थ हैं, इसलिए उनका सम्पूर्ण ज्ञान आपेक्षिक सत्य ही कहा जाता है। यही जैनदर्शन की अनेकांत दृष्टि का गूढ रहस्य है।

स्याद्वाद का आधार

सम्भवतः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की क्या आवश्यकता है? उत्तर–स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की आवश्यकता के मूलतः चार कारण हैं:–

1. वस्तुतत्व की अनन्तधर्मात्मकता
2. ज्ञानप्राप्ति के मानवीय साधनों की सीमितता
3. मानवीय ज्ञान की अपूर्णता एवं सापेक्षिकता तथा
4. भाषा के अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता एवं सापेक्षता।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

सांधारणतया अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची माने जाते हैं।[1] अनेक जैनाचार्यों ने इन्हें पर्यायवाची बताया भी है किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। अनेकान्त स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ का द्योतक है। अनेकान्त व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वाच्य है, तो स्याद्वाद वाचक, अनेकान्त वस्तु स्वरूप है तो स्याद्वाद उस अनेकान्तिक वस्तु स्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा पद्धति, अनेकान्त दर्शन है तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

विभज्यवाद और स्याद्वाद

विभज्यवाद स्याद्वाद का ही एक अन्य पर्यायवाची एवं पूर्ववर्ती है। सूत्रकृतांग में महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया वे विभज्यवाद की भाषा बोलें।[1] इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा था कि हे माणवक! मैं विभज्यवादी हूँ, एकान्तवादी नहीं। विभज्यवाद वह सिद्धान्त है, जो प्रश्न को विभाजित करके उत्तर देता है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि गृहस्थ एवं त्यागी यदि मिथ्यावादी है तो आराधक नहीं हो सकते। किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण वाले हैं तो दोनों ही आराधक हो सकते हैं।[2] इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने यह पूछा– किसका सोना अच्छा है और किसका जागना। तो उत्तर दिया– पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्माओं का जागना। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वक्ता की स्याद्वाद रूप विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा वस्तु के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। इससे वक्ता का विश्लेषण

एकांगी नहीं बनता है। बुद्ध और महावीर का यह विभज्यवाद ही आगे चलकर शून्यवाद और स्याद्वाद में विकसित हुआ है।

शून्यवाद और स्याद्वाद

भगवान बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों को अस्वीकार किया और अपने मार्ग को मध्यम मार्ग कहा। जबकि भगवान् महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपेक्षाकृत रूप से स्वीकृत करके एक विधिमार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध की परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित स्याद्वाद दोनों का ही लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक विचारधाराओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहां शून्यवाद एक निषेधप्रधान दृष्टि है वहीं स्याद्वाद में एक विधायक दृष्टि है। शून्यवाद जो बात संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में करता है, वही बात जैन दार्शनिक व्यवहार और निश्चय नय के आधार पर प्रतिपादित करता है।

शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद अपने निष्कर्षों के सम्बन्ध में है। शून्यवाद अपने निष्कर्षों में निषेधात्मक है और स्याद्वाद विधानात्मक है। शून्यवाद अपनी सम्पूर्ण तार्किक विवेचना में इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तुतत्त्व शाश्वत नहीं है, उच्छिन्न नहीं है, एक नहीं है, अनेक नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं है। जबकि स्याद्वाद अपने निष्कर्षों को विधानात्मक रूप से प्रस्तुत करता है कि वस्तु शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है, एक भी है अनेक भी है सत् भी है, असत् भी है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। इस एकान्त के दोष से बचने की तत्परता में शून्यवाद द्वारा प्रस्तुत शून्यता की धारणा और स्याद्वाद द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की अनेकान्तता की धारणा भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस दोष के भय से एकान्त को अस्वीकार करता है वहीं स्याद्वादी, उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस सदोष एकान्त को निर्दोष बना देता है। दोनों में यदि कोई मौलिक भेद है तो वह अपनी निषेधात्मक और विधेयात्मक दृष्टियों का ही है। शून्यवाद का वस्तुतत्व जहाँ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य है, वहीं जैन दर्शन

का वस्तुतत्व अनन्तधर्मात्मक है। किन्तु शून्य और अनन्त का गणित तो एक ही है। इन दोनों की विभिन्नता तो उस दृष्टि का ही परिणाम है, जो कि वैचारिक आग्रहों से जनमानस को मुक्त करने के लिए बुद्ध और महावीर ने प्रस्तुत की थी। बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का परिणाम शून्यवाद था तो महावीर के विधानात्मक दृष्टिकोण का परिणाम स्याद्वाद। इस सम्बन्ध में आदरणीय दलसुखभाई जी का लेख 'शून्यवाद और स्याद्वाद' विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

उपसंहार

वास्तव में देखा जाय तो सत्य एक है तथा क्षय की दृष्टि से वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनों में कोई परस्पर विरोध नहीं। प्रत्येक दार्शनिक भिन्न भिन्न देश और काल की परिस्थिति के अनुसार सत्य के केवल अशंमात्र को ग्रहण करता है।

वैदिक धर्म व्यवहारप्रधान है, बौद्ध धर्म को श्रमणप्रधान और जैनधर्म को कर्तव्यप्रधान कहा जा सकता है।[2] एक दर्शन कर्म उपासना और ज्ञान को मोक्ष का प्रधान कारण कहता है, दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञा को, तथा तीसरा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र को मोक्ष का प्रधान मानता है परन्तु ध्येय सबका एक ही है। जिस प्रकार सरल व टेढ़े रास्तों से जानेवाली भिन्न-भिन्न नदियाँ अन्त में जाकर एक ही समुद्र में मिलती हैं, उसी प्रकार समस्त दर्शन एक ही पूर्ण सत्य में समाविष्ट हो जाते हैं। जैन आचार्यों के द्वारा स्याद्वाद का उद्भव एकता में विविधता और विविधताओं में एकता का दर्शन कर भारतीय संस्कृति को समुन्नत बनाता है।

सन्दर्भ

1. वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषक। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि।। (आप्तमीमांसा 103)
2. सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकांतताद्योतक कथं चिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः। (पंचास्तिकाय टीका)
3. स्यादित्यव्ययमनेकांतद्योतकं। (स्याद्वादमञ्जरी)
4. ततः स्याद्वाद अनेकान्तवाद (स्याद्वादमञ्जरी)

5. भिक्खू विभज्जवायं च वियाग रेज्जा। सूत्रकृतांग 1/1/4/22
6. मज्झिमनिकाय 11 (आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 43)
7. भगवती सूत्र (22-2-443)
8. श्रोतव्यो सौगतो धर्म कर्तव्य पुनरार्हतः। वैदिक व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः।। हरिभद्र

सहायक ग्रन्थ

1. स्याद्वादमञ्जरी	श्री मल्लिषेणसूरि	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन-अगास, वाया आणंद, पोस्ट बोरिया 377130 (गुजरात)
2. आप्तमीमांसा	आचार्य समन्तभद्र	विनोद कुमार जैन भोलानाथ नगर, शाहदरा दिल्ली 32
3. सूत्रकृताङ्ग	सुधर्मा	श्री अमोल जैन ज्ञानालय कल्याण स्वामी रोड, गली न. 2 धुलिया (महा.) 424002
4. भगवतीसूत्र		अ. भा. जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, म. प्र. 1138
5. स्याद्वाद और सप्तभंगीनय	डॉ. भिखारीरामयादव	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
6. जैनदर्शन में अनेकान्तवाद परिशीलन	डॉ. अशोक कुमार	भगवान ऋषभदेव जैन ग्रन्थमाला, सांगानेर, जयपुर प्रथम संस्करण 2005

स्याद्वाद : निष्पक्ष विद्वानों की दृष्टि में

–प्रो. वीरसागर जैन*

जैन दर्शन के 'स्याद्वाद' सिद्धान्त की कोई कितनी भी आलोचना करे परन्तु निष्पक्ष चिन्तकों ने तो इसे समीचीन सिद्ध करते हुए इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा ही की है। स्याद्वाद सिद्धान्त है ही ऐसा जो प्रथम दृष्टि में बड़ा अटपटा-सा प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ी गहराई में जाते ही वह सम्पूर्ण व्यवहार एवं परमार्थ का ठोस आधार है– यह भी समझ में आ जाता है। यही कारण है कि जिन्होंने इसे हल्के से लिया, वे इसका मर्म नहीं समझ सके और इसकी आलोचना से स्वयं को ही दूषित कर बैठे, किन्तु जिन्होंने इस पर थोड़ा भी गंभीरतापूर्वक चिन्तन करने का प्रयत्न किया, वे इसकी समीचीनता पर ऐसे मुग्ध हो गये, मानो उन्हें अमृत मिल गया हो।

दरअसल अनेकान्तवाद/ स्याद्वाद वस्तु का स्वरूप है और इसे स्वीकार किए बिना और कोई चारा ही नहीं है। संसार के सभी दर्शन, दार्शनिक एवं दर्शनग्रन्थ (शास्त्र) येन-केन प्रकारेण स्याद्वाद को स्वीकार भी करते ही हैं परन्तु जिन्हें 'जैन' या 'स्याद्वाद' शब्द से ही चिढ़ है अथवा जो किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं और इस विषय पर थोड़ी भी निष्पक्षता एवं गंभीरता से सोचना ही नहीं चाहते, उनका क्या किया जा सकता है?

तथापि हम तो पवित्र भाव से यही प्रयत्न करते रहना चाहते हैं कि सभी लोग निष्पक्षतापूर्वक इस स्याद्वाद सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न करें और इससे लाभान्वित हों। जो सच्चे दार्शनिक/चिन्तक होंगे अथवा जिनकी भली होनहार होगी वे तो समझेंगे ही। यहाँ हम इसी

* दर्शनसंकायप्रमुख एवं अध्यक्ष मीमांसा व जैनदर्शन विभाग, श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली

पवित्र भावना से दुनिया भर के कुछ निष्पक्ष चिन्तकों के विचार, जो उन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं, प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि इन्हें पढ़कर हमारे कुछ मित्र अपना पूर्वाग्रह छोड़कर 'स्याद्वाद' को ठीक से समझने का प्रयत्न कर सके तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

डॉ. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त लिखते हैं–''स्याद्वादी होने के कारण जैनमत के सम्बन्ध में एक भ्रम उत्पन्न हो गया है। इसे कुछ लोग संशयवाद (Septism) या अज्ञेयवाद (Agnoticism) मानते हैं। इसकी तुलना ग्रीक दार्शनिक पीरो (Pyrrho) के संशयवाद से की जाती है, क्योंकि पीरो के अनुसार भी वाक्यों से पहले 'शायद' (may be) का प्रयोग आवश्यक समझा जाता था, किन्तु यथार्थ में जैन संशयवादी नहीं है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से किसी वाक्य से उसकी असत्यता या संदिग्धता का बोध नहीं कराया जाता है, बल्कि उसकी सापेक्षता का संकेत किया जाता है। परिस्थिति तथा विचार प्रसंग के अनुसार परामर्श अवश्य ही सत्य होता है– इसे जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद समझना ठीक नही है।''[1]

डॉ. चन्द्रधर शर्मा, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय लिखते हैं–''अन्य भारतीय दार्शनिकों ने स्यात् पद का साधारण अर्थ शायद या सम्भवतः मानकर स्याद्वाद की संशयवाद के रूप में कटु आलोचना की है। बौद्धों और वेदान्तियों ने स्याद्वाद को संशयवाद या संभावनावाद कहकर इसे पागलों का प्रलाप बताया है।[2]. . . .किन्तु स्याद्वाद की यह आलोचना सही नहीं है, क्योंकि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है अपितु सापेक्षवाद है। पुनः स्याद्वाद यह नहीं कहता कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म एक ही दृष्टि से, एक ही अर्थ में रहते हैं। . . . द्रव्यदृष्टि से वस्तु में एकता, नित्यता आदि का और पर्यायदृष्टि से अनेकता, अनित्यता आदि का सापेक्षतया विधान किया जाता है। स्वद्रव्य-रूप-देश-काल की दृष्टि से वस्तु की सत्ता का और परद्रव्य-रूप-देश-काल की दृष्टि से वस्तु की असत्ता का सापेक्षतया

विधान किया जाता है, अतः स्याद्वाद में विरोध नहीं है।''[3]

भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान् **वाचस्पति गैरोला** लिखते हैं– ''जैनों के अनेकान्त को कुछ आस्तिक दर्शनों में छल की संज्ञा दी गयी है, किन्तु यह ठीक नहीं है। छल के सिद्धान्त में एक ही शब्द के दो अर्थ माने जाते हैं, जो अनेकान्तवाद की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। एक पदार्थ को एक दृष्टि से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार करना और उसी को दूसरी दृष्टि (अपेक्षा) से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार न करना–एक शब्द के दो अर्थ नहीं हैं, जैसा कि छल में होता है। वह तो व्यापक सिद्धान्तों एवं विचारों पर आधारित है। अतः अनेकान्तवाद को छल नहीं कहा जा सकता है। अनेकान्तवाद, संशय का हेतु भी नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी नय में समझाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि हम चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनों के तात्त्विक विवेचन तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को देखते हैं तो हमें विश्वास होता है कि जैनों का अनेकान्तवाद कुछ ऐसा गढ़ा हुआ सिद्धान्त नहीं है जिसमें जैन दर्शन की वैयक्तिक दृष्टि का आभास मिलता हो। वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।''[4]

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी लिखते हैं–''मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं। कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोलकर उसका जो वर्णन किया था वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की जाँच ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं

विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा– इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।''[5]

श्री मंगलदेव शास्त्री (प्राचार्य, संस्कृत कालेज, वाराणसी) लिखते हैं कि ''पाणिनि सूत्र अस्ति नास्ति दिष्टं मति (पा. 4/4/30) के अनुसार जैनदर्शन आस्तिक दर्शन में ही परिगणित होता है। जैनदर्शन का अनेकान्त तो उसका आधार स्तम्भ है ही, परन्तु परमार्थतः प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए क्योंकि स्वभावतः प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता होनी ही चाहिए। नैतिक उत्कर्ष के साथ व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अनेकान्त दर्शन जैन दर्शन की महान् देन है।[6]''

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के दर्शनशास्त्र विभागाध्यक्ष **प्रो. फणिभूषण अधिकारी** लिखते हैं-''जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए अवश्य क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने की परवाह नहीं की।''[7]

महामहोपाध्याय **पं. स्वामी राममिश्र शास्त्री** प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी कहते हैं–''मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे देख-सुन हँसी आती है। स्याद्वाद यह जैन धर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते। जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्वसत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।''[8]

विख्यात समालोचक **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** भूतपूर्व सम्पादक 'सरस्वती', प्रयाग कहते हैं–''प्रचीन दर्जे के हिन्दू-धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को, जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की और और भारतवर्ष के इतर जैनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि वे विदेशी विद्वान् जैनधर्म-ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबते रहते।"[9]

डॉ. सम्पूर्णानन्द कहते हैं–"अनेकान्तवाद या सप्तभंगीन्याय जैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान सात में भी गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को वह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही समय में 'है' और 'नहीं' दोनों बातें कैसी कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है।[10]

डॉ. एस. वी. नियोगी, भूतपूर्व चीफ जस्टिस तथा उपकुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय नागपुर कहते हैं–''जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया, जिसके कारण मानव इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है। . . . स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है; कारण, वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे।''[11]

डॉ. गंगाप्रसाद झा प्रयाग विश्वविद्यालय कहते हैं-''जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे

विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ, उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती''।[12]

प्रो. आनन्दशंकर बाबूभाई ध्रुव कहते हैं–''महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व को किस रीति से अवलोकन करना चाहिए– यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद पर आक्षेप करना अनुचित है।''[13]

रामधारीसिंह 'दिनकर' कहते हैं–''इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।''[14]

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं–''सब धर्मों में एक परमतत्त्व का ही गुणगान है और सब दर्शनों ने भिन्न-भिन्न शैली से उस परमतत्त्व का विवेचन किया है, परन्तु स्याद्वाद शैली संपूर्ण एवं यथार्थ है।''[15]

जर्मन के महान् वैज्ञानिक **अल्बर्ट आइन्स्टीन** कहते हैं कि–''हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं। वस्तु के समग्र सत्यांशों को विश्वद्रष्टा ही जान सकता है। कारण कि वस्तु में अनेक गुण रहते हैं और वे स्याद्वाद से ही अल्पज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं।''[16]

अमेरिकी वैज्ञानिक **प्रो. डॉ. आर्चीब्रह्म** लिखते हैं कि-''अनेकान्त जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसको पश्चिमी वैज्ञानिकों तथा हिन्दू तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्यरूप से ही नहीं स्वीकृत किया गया है किन्तु उसको भौतिक एकता या समझौते द्वारा विश्वशान्ति के लिए भी प्रमुख सिद्धान्त माना गया है।''[17]

जर्मनी के **विद्वान हर्मन जैकोबी ने** लिखा है कि ''जैनदर्शन के सिद्धान्त प्राचीन तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके स्याद्वाद नामक सिद्धान्त से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।''[18]

डॉ. थामस, प्रधान ग्रंथपाल, इंडिया ऑफिस, लन्दन लिखते हैं कि–''न्यायाशास्त्रों में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। उसमें स्याद्वाद वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।''[19]

ग्रीक दर्शन में एलिअटिक्स और हेरेक्लिट्स नामक विचारकों के बाद ईसा ने 495 वर्ष पूर्व एम्पीडोक्लीज, एटोमिस्ट्रस अनैक्सागोरस नामक दार्शनिकों का युग था। इन तत्त्ववेत्ताओं ने एलिअटिक्स के एकान्त नित्यवाद और हेरेक्लिट्स के एकान्त क्षणिकवाद का समन्वय करके दोनों सिद्धान्तों को नित्यानित्य रूप में ही स्वीकार किया। इनके मतानुसार सर्वथा नित्यवाद तथा सर्वथा क्षणिकवाद असम्भव है।[20]

अब हम ग्रीस के प्रतिभाशाली कवि तथा दार्शनिक प्लेटो के विचारों की ओर जाते हैं। सोफिस्ट नामक संवाद में एलिमा का मुसाफिर कहता है–जब हम असत्य के विषय में कुछ कहते हैं तो इसका मतलब सत् से विरुद्ध (सर्वथा असत्) न होकर केवल सत् से भिन्न होता है।[21]

जर्मन विद्वान् **हीगेल** कहते हैं– विरुद्धधर्मात्मकता ही सब वस्तुओं का मूल है। **ब्रेडले** कहते हैं कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखी जाने पर किसी अपेक्षा से आवश्यक तथा किसी अपेक्षा से अनावश्यक दोनों रूप सिद्ध होती है।[22]

प्रो. जे. अचिम सत्य का स्वरूप नामक पुस्तक में लिखते हैं कि कोई भी विचार स्वतः ही दूसरे विचार से सर्वथा अनपेक्षित होकर, केवल अपनी अपेक्षा से सत्य नहीं कहा जा सकता।[23]

तत्त्ववेत्ता **प्रो. पेटी** के अनुसार यह विश्व किसी अपेक्षा से नित्य है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। यह नित्यानित्यात्मकता का सिद्धान्त संसार की छोटी से छोटी वस्तु में भी

लागू होता है।[24]

यूनान के दार्शनिक **सुकरात, अफलातुँ तथा अरस्तू** ने भी अपने विचारों के प्रतिपादन में ज्ञात भाव अथवा अज्ञात भाव से अनेकान्त का कथन किया ही है। सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता या अल्पज्ञता का पूरा परिज्ञान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहा करता था कि 'मैं ज्ञानी हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे लोग ज्ञानी नहीं हैं क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे अज्ञ हैं।' यह कथन अनेकान्त के अनुरूप है।[25]

सुकरात के शिष्य अफलातूँ ने कहा था कि हम लोग सागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चों के समान हैं जो अपनी सीपियों से सागर के अथाह जल को नापना चाहते हैं। यह सत्य है कि हम सीपियों से पानी भर-भर कर कभी उसे खाली नहीं कर सकते। फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों से जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं, वह उस महासागर का ही एक अंश है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। अफलातूँ का यह कथन अनेकान्त तथा स्याद्वाद के अत्यन्त निकट है।[26]

मिल के अनुसार विधि (अस्ति) दर्शन में नागर (सिविल) शब्द का उच्चारण करने पर ही अपराधी, सैनिक, राजनीति तथा धर्मशास्त्रीय अर्थों का निषेध (नास्ति) हो जाता है। **थामस कैम्पबेल** सुस्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मनुष्य इसलिए है (अस्ति) कि वह पत्थर सिंह, गर्दभ आदि नहीं (नास्ति) है। यह कथन स्याद्वाद-अनेकान्त के निकट है तथा इसी कारण सर्वसंकर दोष का नाशक एवं अर्थक्रियाकारित्व का उत्पादक है।[27]

दार्शनिक अरस्तू के मत में समस्त परिवर्तन (अनित्यता) के लिए एकरूपता (नित्यता-स्थिरता) को स्वीकार करना आवश्यक है। समस्त परिवर्तन के अन्दर कुछ स्थायी तत्त्व अवश्य रहना चाहिए जिसके अन्दर परिवर्तन हो सके। बिना स्थायी तत्त्व को स्वीकार किए परिवर्तन (अस्थायिता) हो सके—यह हमें प्रतीत नहीं होता।[28]

काण्ट भी स्यात् नित्य स्यात् अनित्य स्वीकार करते हैं। सेकण्ड एनोलोजी ऑफ एक्सपीरियेंस में वे कहते हैं कि बिना स्थिर सत्ता के काल के सम्बन्ध सम्भव नहीं है। 'क' के पीछे 'ख' आने का तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व कि ख प्रारम्भ हो, 'क' समाप्त हो चुका। उनके बीच का सम्बन्ध जिसे हम अनुक्रम के नाम से पुकारते हैं, न तो 'क' के लिए ओर न 'ख' के लिए ही रह सकता है किन्तु एक ऐसी वस्तु के लिए अवश्य रह सकता है जो दोनों के लिए एक समान उपस्थित हो। यदि एक दूसरे के पीछे आने वाली घटनाओं के अतिरिक्त इस संसार में और कुछ न हो अर्थात् 'ख' के प्रारम्भ से पूर्व 'क' का विलोप हो जाना एवं इससे पूर्व कि 'ग' का प्रारम्भ हो, 'ख' का विलुप्त हो जाना आदि-आदि तो इस प्रकार का कोई सिलसिला नहीं बैठ सकता।। किसी भी सिलसिले का सम्भव होना उपलक्षित करता है कि एक सापेक्ष स्थिर तत्त्व अवश्य है।[29]

इस प्रकार अनेक निष्पक्ष चिन्तकों ने स्याद्वाद-अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है और उसकी भूरि-भूरि सराहना भी की है।

सन्दर्भ

1. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 55 (पुस्स्तक भंडार, पटना, स्तिम्बर 1964)
2. प्रमाणवार्तिक 1/182-185, तत्त्वसंग्रह 311-327; शांकरभाष्य 2/2/33
3. भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 36
4. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 114
5. तीर्थंकर वर्द्धमान (आचार्य विद्यानन्द), पृष्ठ 84
6. जैनदर्शन, प्राक्कथन, पृष्ठ 14 से 17 (गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)

7-13. तीर्थंकर वर्धमान महावीर (पद्मचन्द्र शास्त्री) पृष्ठ 111 से 113

14. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
15. श्रीमद् राजचंद्र, भाग 1, पृष्ठ 245
16. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री) पृष्ठ 249
17. आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ 546-47

18-29. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249 से 251